॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रथम खण्ड

'ॐ' नामसे परमात्म-तत्त्वका तथा उसके चार पादोंका वर्णन; चौथे पादके चार भेद

कहते हैं, एक बार देवताओंने प्रजापति ब्रह्माजीसे कहा—'भगवन्! जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उन प्रणवरूप परमात्माके तत्त्वका हमसे स्पष्ट वर्णन कीजिये।' इसपर ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर इस प्रकार उपदेश आरम्भ किया—

'ॐ' यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है। यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उस परमात्मस्वरूप ॐकारकी ही उपव्याख्या—महिमाका विस्तार है। अतीत, वर्तमान और अनागत—इन तीनों कालोंमें होनेवाला यह सारा जगत् ॐकार ही है तथा जो उपर्युक्त तीनों कालोंसे अतीत एवं जगत्से भिन्न कोई तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है। निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है। यह आत्मा भी ब्रह्म है।

इस आत्माकी 'ओम्' इस नामसे अभिहित ब्रह्मके साथ एकता करके तथा ब्रह्मकी आत्माके साथ 'ॐकारके वाच्यार्थरूपसे एकता करके, वह एकमात्र (अद्वितीय), जरारहित, मृत्युरहित, अमृतस्वरूप, निर्भय, चिन्मय तत्त्व 'ओम्' है—इस प्रकार अनुभव करे। उस परमात्मस्वरूप ॐकारमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन शरीरोंवाले इस सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चका आरोप करके अर्थात् एक परमात्मा ही सत्य हैं, उन्हींमें इस स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-जगत्की कल्पना हुई है—विवेकद्वारा इस प्रकार अनुभव करके यह निश्चय करे कि यह जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही है तथा तन्मय (परमात्ममय) होनेके कारण अवश्य यह तत्स्वरूप (परमात्मारूप) ही है, इस दृढ़ निश्चयके द्वारा जगत्को 'ओम्' के वाच्यार्थभूत परमात्मामें विलीन कर डाले। साथ ही उस त्रिविध शरीरवाले आत्माका 'यह त्रिविध शरीररूप उपाधिसे युक्त परब्रह्म ही है' इस प्रकार चिन्तन करे।

स्थूल (विराट् जगत्स्वरूप) एवं स्थूल जगत्का भोक्ता, साथ-ही-साथ (सूक्ष्म जगत्स्वरूप) एवं सूक्ष्म जगत्का भोक्ता होनेके कारण तथा उसी प्रकार एकमात्र आनन्दस्वरूप एवं आनन्दमात्रका उपभोक्ता और साथ ही इन सबसे विलक्षण होनेके कारण वह आत्मा (परमात्मा) चार पादोंवाला है।

जाग्रत्-अवस्था तथा इसके द्वारा उपलक्षित यह सम्पूर्ण जगत् ही जिनका स्थान अर्थात् शरीर है; जो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं; जिनका ज्ञान इस स्थूल (बाह्य) जगत्में सब ओर फैला हुआ है; भूः, भुवः, स्वः आदि सात लोक ही जिनके सात अङ्ग हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टि करण ही जिनके मुख हैं; जो स्थूल जगत्के भोक्ता हैं; धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ जिनके स्वरूप हैं अथवा स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है तथा जो विश्व-शरीरमें स्थित नर

होनेके कारण 'वैश्वानर' कहलाते हैं, वे सर्वरूप वैश्वानर ही पूर्णतम परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके प्रथम पाद हैं। (चार व्यूहोंमें इन्हींको बलभद्ररूप माना गया है।)

स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् ही जिनका स्थान (शरीर) है, जिनका ज्ञान बाह्य जगत्की अपेक्षा आन्तरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है, जो पूर्वोक्त सात अङ्गों और उन्नीस मुखोंवाले तथा सूक्ष्म जगत्के सूक्ष्म तत्त्वोंका अनुभव और पालन करनेवाले हैं, वे पूर्ववत् चार स्वरूपोंवाले तैजस (प्रकाशके स्वामी) सूत्रात्मा—हिरण्यगर्भ उन पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके द्वितीय पाद हैं। (चार व्यूहोंमें इन्हींको 'प्रद्युम्न' कहा गया है।)

जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भी भोगकी कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्ति-अवस्था है। ऐसी सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्की प्रलयावस्था (जब कि सम्पूर्ण विश्व अपने कारणमें विलीन हो जाता है) जिनका स्थान (शरीर) है अर्थात् समष्टि कारणतत्त्वमें जिनकी स्थिति है; जो एकरूपमें ही स्थित हैं—जिनकी अभी नाना रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं हुई है; घनीभूत विज्ञान ही जिनका स्वरूप है; जो केवल आनन्दमय ही हैं; चिन्मय प्रकाश ही जिनका मुख है; ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है* तथा जो एकमात्र अपने स्वरूपभूत आनन्दके ही उपभोक्ता हैं; जिनके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं, वे प्राज्ञ नामसे प्रसिद्ध ईश्वर ही पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके तृतीय पाद हैं। (चार व्यूहोंमें ये ही 'अनिरुद्ध' नामसे प्रसिद्ध हैं।)

इस प्रकार तीनों पादोंके रूपमें वर्णित ये परमात्मा सबके ईश्वर हैं। ये सर्वज्ञ हैं। ये अन्तर्यामी हैं। ये सम्पूर्ण विश्वके कारण हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्थान भी ये ही हैं।

जाग्रत् आदि तीनों ही अवस्थाओंमें लक्षित होनेवाला यह जगत् भी वास्तवमें सुषुप्तरूप ही है; क्योंकि इनसे मोहित हुए मनुष्योंको कभी किसी भी वस्तुका तात्त्विक ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार यह त्रिविध जगत् स्वप्नवत् भी है; क्योंकि यहाँ वस्तुका प्रायः विपरीत ही ज्ञान होता है। इतना ही नहीं, कुछ-का-कुछ प्रतीत होनेके कारण यहाँ सब कुछ मायामात्र ही है। परमात्मा इससे विलक्षण हैं; क्योंकि ये परमात्मा एकमात्र चिन्मय रसरूप हैं।

उक्त तीनों पादोंके अतिरिक्त जो चौथा पाद है, वह ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार भेदोंके कारण चार रूपवाला है। उपर्युक्त चारों पाद तुरीय ही कहलाते हैं; क्योंकि प्रत्येक रूपका तुरीयमें ही पर्यवसान (लय) होता है। इस तुरीय पादमें भी जो ओत, अनुज्ञातृ और अनुज्ञारूप तीन भेद हैं, इन तीनोंको भी पूर्ववत् सुषुप्ति एवं स्वप्नके समान तथा मायामात्र ही समझना चाहिये; क्योंकि पारमार्थिक तुरीयरूप जो निर्विकल्प एवं निर्विशेष परमात्मा हैं, वे एकमात्र चिन्मय रसरूप ही हैं।†

अनन्तर श्रुतिका यह आदेश (उपदेश) है—'जो न स्थूलको जानता है, न सूक्ष्मको जानता है और न दोनोंको ही जानता है; जो न तो जाननेवाला है, न नहीं जाननेवाला है और न प्रज्ञानका ही घनीभूत रूप है; जिसे देखा नहीं जा सकता, व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता, जो पकड़नेमें नहीं आ सकता; जिसका कोई लक्षण—चिह्न अथवा आकार भी नहीं है; जो चिन्तन करनेमें नहीं आ सकता,

---

*'ओत' आदिका स्वरूप आगे बताया जायगा।

† इस प्रसङ्गका सारांश यों समझना चाहिये—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-कालमें अनुभव किया जानेवाला जो कुछ भी प्राकृत प्रपञ्च या सुख है, वह सब कार्य है और तुरीय उसका कारण है। कारणमें ही कार्यकी कल्पना होती है, अतः कारण ही सत्य है। कारणके भी साक्षी हैं सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा। वे कहीं सत्‌रूपसे, कहीं चित्‌रूपसे, कहीं आनन्दरूपसे और कहीं सत् आदि समस्त रूपोंसे कारणमें व्याप्त हैं। इस प्रकार कारणमें परमात्माकी व्यापकताका चिन्तन करना ओतयोग कहलाता है। व्याप्त वस्तुकी सत्ता व्यापकके ही अधीन होती है, इस न्यायसे परमात्माके द्वारा व्याप्त कारणतत्त्वकी स्वतः कोई सत्ता आदि नहीं है। वह परमात्माके अधीन सत्ताका ही प्रकाशक होनेके कारण परमात्मामें ही आरोपित या कल्पित है। इस प्रकारके चिन्तनका नाम अनुज्ञातृयोग है। अध्यस्त, आरोपित या कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठानसे पृथक् अस्तित्व नहीं रखती; वह अधिष्ठानस्वरूप ही समझी जाती है। अतः परमात्मामें आरोपित कारण-तत्त्व भी उनसे पृथक् नहीं, परमात्मरूप ही है। इस प्रकारका चिन्तन अनुज्ञायोग कहा गया है। ये तीनों योग कारण-ज्ञानकी अपेक्षा रखते हैं; अतः कारणमें ही इनका अन्तर्भाव है। इसीलिये इनके पृथक् अस्तित्वको सुषुप्त, स्वप्न एवं मायामात्र बताया गया है। इन भोगोंद्वारा कारणका लय या संहार होता है। लयके आधार हैं तुरीय परमात्मा; अतः इन सबको तुरीयपादरूप बताना उचित ही है। परमात्मा ही 'अविकल्प' नामसे निर्दिष्ट पारमार्थिक तुरीय हैं। 'अथायमादेशः' आदिके द्वारा श्रुति उन्हींके स्वरूपकी ओर संकेत करती है।

जिसे किसी विशिष्ट रूपसे बताया नहीं जा सकता; एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति (अनुभूति) ही जिसका सार अथवा स्वरूप है एवं जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है—ऐसा सर्वथा कल्याणमय, परम शान्त अद्वितीय तत्त्व ही उन पूर्णब्रह्म परमात्मा नृसिंहदेवका चतुर्थ पाद है—यों ज्ञानी महात्मा मानते हैं।'

इस प्रकार चार पादोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे भगवान् नृसिंहदेव ही सबके आत्मा हैं; वे ही जाननेयोग्य हैं। वे कारणात्मा ईश्वर (अथवा त्रिभुवनका शासन करनेवाले इन्द्र आदि)-को भी अपना ग्रास बना लेते—अपनेमें लीन कर लेते हैं। वे तुरीयके भी तुरीय हैं। (अतः परमात्माको ही जानने और पानेका प्रयत्न करना चाहिये) ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

परमात्माके चार पादोंकी ओंकारकी मात्राओंके साथ एकता; मन्त्रराज आनुष्टुभके द्वारा तुरीय परमात्माका ज्ञान

निश्चय ही उन 'तुरीय' नामसे प्रसिद्ध इन चार पादोंवाले परमात्माको ओङ्कारकी मात्राओं तथा समस्त ॐकारके साथ एकीभूत करे अर्थात् ॐकारको परमात्मा तथा उसकी चार मात्राओंको परमात्माके चार पाद मानकर उसी रूपमें उनकी भावना करे। वे परमात्मा जाग्रत्कालमें स्वप्न और सुषुप्तिसे रहित हैं, स्वप्नकालमें जाग्रत् और सुषुप्तिसे रहित हैं, सुषुप्तिमें जाग्रत् तथा स्वप्नसे रहित हैं, और तुरीयावस्थामें जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—तीनोंसे रहित हैं। प्रत्येक अवस्थामें पृथक्-पृथक् रहते हुए भी वे सभी अवस्थाओंसे संयुक्त हैं। कहीं भी उनका व्यभिचार (अभाव) नहीं है। इस प्रकार वे नित्य, अनन्त, सत्स्वरूप तथा एकरस हैं। नेत्रके द्रष्टा हैं, श्रोत्र-इन्द्रियके द्रष्टा हैं। ये दोनों भी उपलक्षणमात्र हैं; वे घ्राणेन्द्रिय, रसना और त्वचाके भी द्रष्टा हैं। वाक् आदि कर्मेन्द्रियोंके द्रष्टा, मनके द्रष्टा, बुद्धिके द्रष्टा, प्राणके द्रष्टा, तम अर्थात् अहङ्कारके द्रष्टा हैं; कहाँतक गिनायें, वे सबके द्रष्टा हैं। इसीलिये वे सबसे भिन्न और सबसे विलक्षण हैं। द्रष्टा दृश्यसे भिन्न होता ही है। 'द्रष्टा' कहनेसे कोई यह न समझ ले कि वे राग अथवा द्वेषपूर्वक इन सबको देखते हैं; नहीं-नहीं, वे साक्षी हैं—पक्षपातरहित हैं। वे नेत्रके साक्षी हैं, श्रवणेन्द्रियके साक्षी हैं; घ्राणेन्द्रिय, रसना और त्वचाके भी साक्षी हैं। वाक् आदि कर्मेन्द्रियोंके साक्षी, मनके साक्षी, बुद्धिके साक्षी, प्राणके साक्षी हैं; तमके साक्षी—नहीं-नहीं, सबके साक्षी हैं। इसीलिये वे निर्विकार हैं, महाचैतन्यस्वरूप—आत्माके भी आत्मा हैं। इन पुत्र-वित्तादि तथा नेत्र-श्रोत्रादि सबसे बढ़कर प्रियतम हैं और इस प्रकार आनन्दके घनीभूत विग्रह हैं। इस समस्त प्रपञ्चके पूर्वसे ही वे भलीभाँति प्रकाशित हो रहे हैं। अतः एकरस ही हैं। जरा आदि अवस्थाएँ अथवा विकार उनका स्पर्श भी नहीं कर सकते और तो और, मृत्यु भी उनसे दूर रहती है। वे अमृत एवं अभय ब्रह्म ही हैं। फिर भी अपनी मायाशक्तिसे चार पादवाले बने हुए हैं।

जाग्रत्-अवस्था तथा उसके द्वारा उपलक्षित यह स्थूल जगत् जिनका स्थान (शरीर) है; जिनके स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—ये चार स्वरूप हैं; वे विश्वरूप वैश्वानर पूर्णतम परमात्माके प्रथम पाद हैं और वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा अथवा बीज, बिन्दु, नाद और शक्ति—इन चार रूपोंवाला अकार ॐकारकी पहली मात्रा है। यह अकार ही वैश्वानर है; क्योंकि यह अकार भी स्थूल (वैखरी), सूक्ष्म (मध्यमा), बीज (पश्यन्ती) और साक्षी (परा)—इन चार स्वरूपोंसे परिलक्षित होनेके कारण वैश्वानरकी भाँति चार रूपवाला ही है। इसके सिवा आप्ति (व्याप्ति)-रूप गुणके होनेसे भी दोनोंमें समानता है—वैश्वानर जाग्रत्कालीन समस्त जगत्में व्यापक है तथा अकार भी वाणीमात्रमें व्यापक है। (श्रुति भी कहती है, '**अकारो वै सर्वा वाक्**'—निस्संदेह अकार सम्पूर्ण वाणी है।) यही नहीं, बोलते समय सबसे पहले अकारका ही उच्चारण प्राप्त होता है—हृदयदेशसे ऊपरको उठी हुई वायु कण्ठमें पहले ध्वनित होती है; अतः प्रथम कण्ठस्थानीय अकारकी ही ध्वनि निकलती है। उधर सृष्टिकालमें सर्वप्रथम विराट्स्वरूप वैश्वानरकी ही उपलब्धि होती है; अतः 'प्राप्ति' रूप गुणकी दृष्टिसे भी दोनोंमें समानता है। इसी प्रकार आदिमान् होनेके कारण भी दोनोंमें समानता है—

अकार सम्पूर्ण वर्णोंमें आदि (प्रथम) है और वैश्वानर भी विराट् रूपमें सबसे पहले प्रकट हुआ है। इन सब समानताओंके कारण तथा ऊपर बताये अनुसार स्थूलरूप, सूक्ष्मरूप, कारणरूप और साक्षीरूप होनेसे भी दोनोंमें अभिन्नता है। जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य ही जगत्के सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है और सबका आदि (सबमें प्रधान) बन जाता है।

स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् ही जिनका स्थान (शरीर) है तथा जो पूर्ववत् चार स्वरूपोंवाले हैं, वे पूर्णतम परमात्माके द्वितीय पादरूप तैजस हिरण्यगर्भ और ओंकारकी द्वितीय मात्राके रूपमें उपलब्ध होनेवाला पूर्ववत् चार रूपोंसे युक्त उकार—ये एक ही हैं। उकार ही तैजस है। उकारके जो स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—ये चार रूप हैं, इनके द्वारा अवश्य ही उकार भी तैजस पुरुषकी भाँति चार स्वरूपोंवाला है। अतः इस समानताके कारण दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इसके सिवा ओंकारकी दूसरी मात्रा जो उकार है, वह पहली मात्रा अकारकी अपेक्षा उत्कृष्ट (ऊपर उठा हुआ अथवा श्रेष्ठ) है तथा उभयरूप है—'अ' और 'म' के बीचमें होनेके कारण दोनोंके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है; अतः दोनोंके भावसे युक्त है। इसी प्रकार द्वितीय पादरूप तैजस हिरण्यगर्भ प्रथम पादस्वरूप वैश्वानरसे उत्कृष्ट है तथा वैश्वानर और प्राज्ञ दोनोंके मध्यवर्ती होनेसे वह उभयसम्बन्धी भी है। अतः इस समानताके कारण भी उकार ही तैजस है। इतना ही नहीं; पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप होनेके कारण भी दोनों परस्पर समान और अभिन्न हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चय ही ज्ञानकी परम्पराको समुन्नत करता है तथा सबमें समान भाववाला होता है।

सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्की प्रलयावस्था ही जिसका स्थान है अर्थात् समष्टि कारणतत्त्वमें जिसकी स्थिति है; जो ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार रूपोंवाला है, वह प्राज्ञ ईश्वर, जो परमात्माके तृतीय पादरूपमें बताया गया है, ॐकारकी तीसरी मात्राके रूपमें उपलब्ध होनेवाला पूर्वोक्त चार रूपोंसे युक्त मकार ही है। निश्चय ही यह मकार अपने स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—इन स्वरूपोंसे चार रूपोंवाला है और प्राज्ञ भी चार रूपोंवाला है। अतः अत्यधिक समानताके कारण मकार ही प्राज्ञ है। इसके सिवा, मिति और अपीति अर्थात् माप करने और विलीन करनेके कारण भी मकार और प्राज्ञ परस्पर समानता रखते हैं। 'अ' और 'उ' के उच्चारणके बाद 'म' का उच्चारण होता है, अतः वे दोनों उसके द्वारा माप लिये जाते हैं; तथा 'ओम्' कहते समय 'म्' के उच्चारणके साथ मुख बंद हो जाता है, अतः 'अ' और 'उ' उसीमें विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार वैश्वानर और तैजस भी प्राज्ञद्वारा माप लिये जाते हैं; क्योंकि जाग्रत् और स्वप्नके अन्तमें सुषुप्ति-अवस्था आती है तथा सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्नका लय हो जाता है। अतः क्रमशः जाग्रत् और स्वप्नके अधिष्ठाता वैश्वानर और तैजस भी प्राज्ञमें विलीन हो जाते हैं। इन समानताओंके कारण तथा इसके अतिरिक्त पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप होनेसे भी दोनों परस्पर समान एवं अभिन्न हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य ही इस सम्पूर्ण कारण-जगत्को माप लेता अर्थात् भलीभाँति जान लेता है तथा सबको अपनेमें विलीन कर लेता है। प्रत्येक मात्राको प्रतिमात्राके रूपमें परिणत कर दे। 'अ', 'उ', 'म्'—ये मात्राएँ हैं। अकारका उकारमें लय होता है; उकार उसकी प्रतिमात्रा है और मकार उकारकी प्रतिमात्रा है तथा मकारकी प्रतिमात्रा प्रणव है; क्योंकि प्रणवमें ही सबका लय होता है। अतः अकार आदि मात्राओंके अपनी-अपनी प्रतिमात्रामें लय होनेकी भावना करे। (इसी प्रकार वैश्वानरके तैजस हिरण्यगर्भमें और उनके प्राज्ञ ईश्वरमें लय होनेकी भावना करनी चाहिये।)

इन वैश्वानर आदि तीन पादोंके अतिरिक्त जो परमात्माके चतुर्थ पादके रूपमें उपवर्णित तुरीय परमेश्वर हैं, वे कारणात्मा ईश्वरको भी अपना ग्रास बना लेते हैं—अपनेमें विलीन कर लेते हैं। वे स्वराट् हैं—अपनी ही शक्तिसे शक्तिमान् सम्राट् हैं; स्वयं ही सर्वसमर्थ ईश्वर हैं तथा अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले परमात्मा हैं। उनके भी चार स्वरूप हैं—ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प। अवश्य ही ये परमात्मा 'ओत' हैं—सर्वत्र व्यापक हैं; ठीक उसी तरह, जैसे संहारकालमें कालाग्नि और सूर्य अपनी प्रचण्ड ज्वालाओं और प्रखर रश्मियोंसे इस सम्पूर्ण जगत्को बाहर-भीतरसे व्याप्त कर लेते हैं। ये परमात्मा अनुज्ञाता भी हैं। इस सम्पूर्ण जगत्के

लिये अपने-आपको दे डालते हैं—सबको अपना स्वरूप ही बना लेते हैं; ठीक वैसे ही, जैसे सूर्यदेव अन्धकारको अपना स्वरूप बना लेते हैं, उसे अपने प्रकाशमें विलीन करके प्रकाशरूपता प्रदान करते हैं। इसी प्रकार ये परमात्मा अनुज्ञैकरस हैं—एकमात्र ज्ञानके रससे परिपूर्ण हैं, अज्ञानका नाश करके चिन्मय स्वरूपसे ही स्थित हैं; ठीक उसी तरह, जैसे जलानेयोग्य काष्ठ आदिको जलाकर अग्नि केवल तेजोमय स्वरूपसे स्थित हो जाती है। साथ ही ये परमात्मा अविकल्प भी हैं—भेद और संशयसे रहित हैं; क्योंकि ये मन और वाणीके विषय नहीं हैं, चित्स्वरूप हैं। अतः ये चार रूपवाले ओंकार ही हैं। अवश्य ही यह ओंकार ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन अपने ही स्वरूपोंसे चार रूपोंवाला है; अतः तुरीय पादकी भाँति यह ओंकार भी परमात्मा ही है; क्योंकि यह सब कुछ नाम-रूपमय ही है अर्थात् नाम वाचक है और रूप वाच्य। यदि वाच्यके चार भेद हैं तो वाचकके भी हो सकते हैं; क्योंकि उनमें भेद नहीं है। अतः जैसे परमात्माके ओत आदि चार स्वरूप हैं, वैसे ही ओंकारके भी हैं। इसलिये तुरीय, चित्स्वरूप, ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूप होनेके कारण ओंकार और परमात्मा दोनों परस्पर अभिन्न हैं। जैसे वैश्वानर आदिका तुरीयमें लय होता है, उसी प्रकार ओत आदिका अविकल्पमें लय होता है; अतः यह सब कुछ अविकल्परूप ही है। उसमें किसी प्रकारका कोई भी भेद नहीं है।

चतुर्थ पादके विषयमें श्रुतिका यह उपदेश है—'मात्रारहित ओंकार अर्थात् परमात्माके नामात्मक ओंकारका मात्रारहित—बोलनेमें न आ सकनेवाला निराकार स्वरूप ही (मन-वाणीका अविषय होनेके कारण) व्यवहारमें न आ सकनेवाला, प्रपञ्चसे अतीत, कल्याणमय एवं अद्वितीय परमात्माका चतुर्थ पाद है। जो इस प्रकार जानता है, वह आत्मा ही आत्माके द्वारा परमात्मामें पूर्णतः प्रवेश कर जाता है। यह उपासक वीर होता है, संसारमें कहीं भी उसका पराभव नहीं होता।'

(तुरीय परमात्माको जाननेके लिये उपर्युक्त रूपसे चिन्तन करना तो एक उपाय है ही; दूसरा भी उपाय है, उसे बताते हैं—) अथवा नृसिंहसम्बन्धी मन्त्रराज आनुष्टुभसे तुरीयको जाने। निश्चय ही यह परमात्माके स्वरूपको प्रकाशित कर देता है; क्योंकि यह सबका संहार करनेमें समर्थ (उग्र) है, परिभवको सहन न कर सकनेवाला (वीर) है, महान् प्रभु है, सर्वत्र व्यापक (विष्णु) है।* सदा उज्ज्वल—प्रकाशमय है, अविद्या और उसके कार्यसे रहित है, अपने आत्मीय जनोंका अज्ञानमय बन्धन दूर कर देता है, सर्वदा द्वैतसे शून्य है, आनन्दस्वरूप है, सबका अधिष्ठान और सन्मात्रस्वरूप है। अविद्या, तम और मोह (मल, आवरण और विक्षेप)-को सर्वथा नष्ट कर डालनेवाला है तथा 'अहम्' (मैं)-का एकमात्र लक्ष्यार्थ सबका आत्मा है।

इसलिये इस मन्त्रराजको तथा इसके वाच्यार्थरूप भगवान् नृसिंहको ही सबका आत्मा एवं परब्रह्म जानकर निरन्तर उनका चिन्तन करता रहे। इस प्रकार जानने तथा इसीके अनुसार उपासना करनेवाला यह पुरुष वीर एवं मनुष्योंमें सिंहरूप—श्रेष्ठ होता है।

~~~ ○ ~~~

* यहाँ 'सर्वसंहारसमर्थः' आदि पदोंद्वारा मन्त्रराज आनुष्टुभकी ही व्याख्या की गयी है। आरम्भसे लेकर 'प्रभुर्व्यासः' तक 'उग्रं वीरं महाविष्णुम्' इन तीन पदोंकी व्याख्या हो गयी है, जो स्पष्ट है। 'सदोज्ज्वलः' इस पदके द्वारा 'ज्वलन्तम्' पदकी व्याख्या हुई है। यह भी स्पष्ट ही है। 'अविद्याकार्यहीनः' इसके द्वारा 'सर्वतोमुखम्' का भाव व्यक्त किया गया है। 'सर्वतोमुखम्' पद ज्ञानस्वरूपताको लक्ष्य कराता है; अतः उसके द्वारा अविद्या एवं उसके कार्यका निराकरण होना उचित ही है। 'स्वात्मबन्धहरः' पदमें 'नृसिंहम्' पदका भाव है। 'नृसिंहम्' में दो पद हैं—'नृ' और 'सिंहम्'। गत्यर्थक 'नृ' धातुसे 'नृ' शब्द बनता है; अतः 'नृ' का अर्थ है—ज्ञानस्वरूप तथा त्रिविध परिच्छेदशून्य आत्मा। 'सिंहम्' पदके दो भाग हैं—सिं+हम्। 'षिञ् बन्धने' इस धातुसे 'सिं' बना है, अतः उसका अर्थ हुआ बन्धनकारक अज्ञान। 'हं' का अर्थ है—संहार करनेवाला। इस प्रकार 'नृसिंहम्' पदका अर्थ हुआ आत्माको बन्धनमें डालनेवाले अज्ञानका संहारक। इसी भावसे 'स्वात्मबन्धहरः' कहा गया है। 'भीषणम्' पदका अर्थ है डरानेवाला। डर या भय वहीं हैं, जहाँ द्वैत है। भगवान् नृसिंह और उनका मन्त्रराज द्वैतको भयभीत करनेवाला है, अतः उनके पास द्वैत या भ्रम फटकने नहीं पाता। इसी भावको ध्यानमें रखकर 'सर्वदा द्वैतरहितः' कहा गया है। 'सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः' पदसे 'मृत्युमृत्युम्' पदका भाव व्यक्त किया गया है। मृत्युमें ही सबका लय होता है, अतः वही सबका अधिष्ठान है। भगवान् मृत्युके भी मृत्यु हैं, अतः वे तथा उनके मन्त्र ही सर्वाधिष्ठान हो सकते हैं। 'नमामि' का अर्थ इस प्रकार है—'न'=नहीं है, 'मा' का=प्रमात्मक ज्ञानस्वरूप परमानन्दमय तुरीय पदका, 'मिं'=हिंसाकारक अविद्या, तम और मोह जिसमें, वह; इसीको लक्ष्यमें रखकर 'निरस्ताविद्यातमोमोहः' कहा गया है। कहा भी है—'मीति हिंसाकरं नात्र तमोऽज्ञानादिलक्षणम्।' 'अहम्' पदका तो स्पष्टतः उल्लेख हुआ ही है।
~~~

तृतीय खण्ड

अनुष्टुप्-मन्त्रराजके पादोंके अलग-अलग जप तथा ध्यानकी विधि

निश्चय ही उस प्रणवकी जो पहली मात्रा अकार है, वह अनुष्टुप् मन्त्रराजके प्रथम पादके दोनों ओर लगायी जाती है।* इसी प्रकार प्रणवकी दूसरी मात्रा 'उ' अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वितीय पादके आदि-अन्तमें लगती है (यथा—'**उं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् उम्।**' इस द्वितीय पादरूप मन्त्रका जप करते हुए हिरण्यगर्भका ध्यान करना चाहिये)। इसी तरह प्रणवकी तीसरी मात्रा 'म' अनुष्टुप्-मन्त्रके तृतीय पादके आगे-पीछे लगती है (यथा—'**मं नृसिंहं भीषणं भद्रम् मम्।**' इसके जपके साथ-साथ प्राज्ञ ईश्वरका ध्यान होना चाहिये)। चौथी मात्रा ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूपा है; उसके द्वारा उक्त चार रूपोंवाले तुरीय पादका अनुसन्धान (ध्यान) करके अनुष्टुप्-मन्त्रके चतुर्थ पादसे भी उक्त तुरीय पादका ही चिन्तन करे। फिर पूर्वोक्त तुरीया (चौथी) मात्रासे तुरीय पादका अनुसन्धान करते हुए तुरीय-तुरीयस्वरूप जो परमात्मा हैं, उनके द्वारा निरन्तर ध्यानपूर्वक सम्पूर्ण जगत्को ग्रस ले अर्थात् सबको परमात्मामें ही विलीन कर दे।†

अवश्य ही उस प्रकरणप्राप्त प्रणवकी जो पहली मात्रा है, वह अकार है; वह पृथिवी है, वह ऋक्सम्बन्धी मन्त्रोंके साथ ऋग्वेद है। वह ब्रह्मा देवता है, वसु नामक देवताओंका गण है, गायत्री छन्द है, गार्हपत्य अग्नि है। इस प्रकार वह मात्रा विराट् पुरुष वैश्वानरका प्रतिपादन करनेवाली तथा परमात्माका प्रथम पाद है। केवल प्रथम पाद ही नहीं, सभी पादोंमें वह मात्रा रहती है; क्योंकि पहले बताये अनुसार उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—चार स्वरूप हैं। (अतः स्थूलरूपसे वह प्रथम पादमें, सूक्ष्मरूपसे द्वितीय पादमें, बीजरूपसे तृतीय पादमें और साक्षीरूपसे चतुर्थ पादमें रहती है।)

प्रणवकी दूसरी मात्रा उकार है; वह अन्तरिक्ष-लोक है, वह यजुः-मन्त्रोंके साथ यजुर्वेद है, विष्णु देवता है, रुद्र नामक देवताओंका गण है, त्रिष्टुप् छन्द है, दक्षिणाग्नि है। वह मात्रा तैजस हिरण्यगर्भका बोध करानेवाली तथा परमात्माका द्वितीय पाद है। द्वितीय पाद होते हुए भी वह सभी पादोंमें रहती है; क्योंकि उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—चार स्वरूप हैं।

प्रणवकी तीसरी मात्रा मकार है; वह द्युलोक है, वह साम-मन्त्रोंसहित सामवेद है, रुद्र देवता है, आदित्य नामक देवताओंका गण है, जगती छन्द है, आहवनीय अग्नि है। वह प्राज्ञ-ईश्वरका बोध करानेवाली तीसरी मात्रा परमात्माका तृतीय पाद है। साथ ही वह अन्य सभी पादोंमें भी रहती है; क्योंकि उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—ये चार स्वरूप हैं।

प्रणवके अन्तमें जो उसकी चौथी मात्रा—अर्धमात्रा है, वह ओंकार (बिन्दु) है; वह सोमलोक है, वह अथर्वमन्त्रोंसहित अथर्ववेद है, संवर्तक-अग्नि देवता है, मरुत् नामक देवताओंका गण है, विराट् छन्द है, एक ऋषि अग्नि है। वह मात्रा बिन्दु आदि रूपसे तुरीय परमात्माका बोधक होनेसे भास्वती (प्रकाशमयी) मानी गयी है। वही पूर्णब्रह्म परमात्माका तथा मन्त्रराज अनुष्टुप्का भी चतुर्थ पाद है तथा वह अन्य सब पादोंमें भी है; क्योंकि उसके

---

* इस प्रकार जो मन्त्र बनता है, उसका उच्चारण करके वैश्वानर या विराट् पुरुषका ध्यान करना चाहिये। अकार और विराट् दोनोंको 'चतुरात्मा' बताया गया है; अतः यहाँ बीज, बिन्दु, नाद और शक्तिसे युक्त अकारको ही अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रथम पादके आदि-अन्तमें लगाना चाहिये; यों करनेपर मन्त्रका उच्चारण इस प्रकार होगा—'अं उग्रं वीरं महाविष्णुम् अम्'।

† इस प्रसङ्गका भाव यह है कि 'अम्' इस चार रूपोंवाले अकारसे चार रूपोंवाले विराट् पुरुषकी एकताका अनुभव करके उसके द्वारा विराट्का ध्यान करे, फिर अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रथम पादसे भी विराट्का ही सम्बन्ध मानकर उसके द्वारा भी उन्हींका स्पष्टरूपसे चिन्तन करे। फिर 'अम्' का उच्चारण कर अकाररूपमें ही विराट्का चिन्तन करके 'उम्' का उच्चारण करते हुए हिरण्यगर्भका ध्यान करे। तत्पश्चात् 'अ' को 'उ' में विलीन करते हुए भावनाद्वारा ही विराट्का हिरण्यगर्भमें लय करे। फिर अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वितीय पाद तथा उकारसे भी हिरण्यगर्भकी ही भावना करते हुए मकारके द्वारा अव्याकृतका चिन्तन करके उसमें हिरण्यगर्भका लय करे। तदनन्तर अनुष्टुप्के तृतीय पाद और मकारसे भी अव्याकृतका ही चिन्तन करते हुए नादपर्यन्त उच्चारित ओत, अनुज्ञातृ आदि रूपवाले प्रणवद्वारा तत्स्वरूप तुरीयका चिन्तन करके उसीमें अव्याकृतका लय करे। फिर अनुष्टुप्के चतुर्थ पादसे भी तुरीयका ही चिन्तन करके पुनः बिन्दु, नाद आदिसे युक्त प्रणवद्वारा उन तुरीय-तुरीयस्वरूप परमात्माका ही चिन्तन करते हुए सबका उन्हींमें लय करके उनके स्वरूपमें स्थित हो जाय।

स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—ये चार स्वरूप हैं।

इस प्रकार व्यष्टि और समष्टिकी (ओंकारकी एक-एक मात्रा और अनुष्टुप्-मन्त्रके एक-एक पाद और परमात्माके एक-एक पादकी) एकताका चिन्तन करके मात्राको प्रतिमात्राके रूपमें परिणत करे अर्थात् अकार और विराट् पुरुषको उकार और हिरण्यगर्भमें लीन करे और उकार एवं हिरण्यगर्भको मकार एवं ईश्वरमें विलीन करे। फिर उसको भी अर्धमात्रा एवं तुरीयमें विलीन करके क्रमशः ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्पका चिन्तन तथा पूर्व-पूर्वका उत्तरोत्तरमें लय करते हुए अन्तमें सबको अविकल्परूप परमेश्वरमें ही लीन कर दे और निर्विशेष परमेश्वरका चिन्तन करते हुए उन्हींमें स्थित हो जाय।

अपनेको नित्य शुद्ध-बुद्ध, अमृतस्वरूप मानकर अपनी बुद्धिकी वृत्तियोंका परमात्मामें हवन करके अर्थात् अपने अन्तःकरणको परमात्मामें ही लगाकर बाहर-भीतरसे शुद्ध हो पवित्र देशमें पवित्र आसनपर सुखपूर्वक बैठे और (न्यास, शुद्धि, रक्षोघ्न-मन्त्रोंके पाठ, दिग्बन्धन, कवचपाठ, गणपतिस्मरण एवं रक्षा आदिके द्वारा) सब प्रकारके विघ्नोंका निवारण करके प्राणायामपूर्वक ध्यानमें इन परमात्माके तत्त्वका अनुभव करे। फिर परमात्मामें ही इस सम्पूर्ण प्रपञ्चकी स्थिति देखते हुए प्राणाग्निहोत्र[1] और प्रपञ्च[2]-यागकी रीतिसे प्राण और प्रपञ्चसे अपना सम्बन्ध हटा ले और सर्वस्वरूप,[3] आधारयुक्त,[4]

---

१. श्रीविद्यारण्य मुनिने इस प्रसङ्गकी टीकामें संक्षेपसे प्राणाग्निहोत्रकी रीति इस प्रकार कही है। 'ॐ ह्रीं' इस बीज मन्त्रका उच्चारण करते हुए चिदानन्दस्वरूप आराध्यदेवका ध्यान करे और फिर 'क्ष' से उल्टे चलकर 'अ' तककी वर्णमालाका (क्षं हं सं····इत्यादि रूपसे) उच्चारण करते हुए उन्हींके स्वरूपभूत सर्वजगन्मय शरीरका (जो स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षीरूपसे चार प्रकारका है) चिन्तन करे और ऐसी भावना करे कि यह चतुर्विध शरीर सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मासे प्रकट हुआ है, अतः यह सच्चिदानन्दमय ही है। फिर 'सोऽहम्', 'हंसः' इन मन्त्रोंके जपद्वारा जीवात्मा और परमात्माकी परस्पर एकताकी भावना करे। इस प्रकार एकत्व-चिन्तनरूप अग्निमें ही 'स्वाहा' का उच्चारण करके उक्त चारों शरीरोंका होम (लय) कर दे।

२. प्रपञ्च-याग भी इसी प्रकार करना होता है। 'ॐ ह्रीं' इस मन्त्रका उच्चारण करके सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माका चिन्तन करते हुए 'अ' से लेकर 'क्ष' तककी वर्णमालाको अनुलोम-क्रमसे (अं आं····इत्यादिरूपसे) उच्चारण करे। फिर समस्त प्रपञ्चको सच्चिदानन्दमय परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ देखकर उसके भी सच्चिदानन्दमय होनेकी भावना करे। तत्पश्चात् 'हंसः,' 'सोऽहम्' इस प्रकार प्राणाग्निहोत्रकी अपेक्षा उल्टे क्रमसे जप तथा साथ-ही-साथ परमात्मा और जीवकी एकताका चिन्तन करते हुए उस चिन्तनमय अग्निमें 'स्वाहा' का उच्चारण करके समस्त प्रपञ्च होम दे—विलीन कर दे।

३. यह 'सकलः' का अर्थ है। इसके द्वारा सकलीकरण नामक न्यासकी ओर संकेत किया गया है। पहले इस उत्तरतापनीयके प्रथम खण्डमें बताये अनुसार इस आत्माकी 'ॐ' इस नामके द्वारा प्रतिपादित होनेवाले ब्रह्मके साथ एकता करके तथा ब्रह्मकी आत्माके साथ ओंकारके वाच्यार्थरूपसे एकता करके, वह एकमात्र जरारहित, मृत्युरहित, अमृतस्वरूप, निर्भय, चिन्मय तत्त्व 'ॐ' है—इस प्रकार अनुभव करे। तत्पश्चात् उस परमात्मस्वरूप ओंकारमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन शरीरोंवाले सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका आरोप करके अर्थात् एक परमात्मा ही सत्य हैं, उन्हींमें इस स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-जगत्की कल्पना हुई है—ऐसा विवेकद्वारा अनुभव करके यह निश्चय करे कि यह जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही है; क्योंकि तन्मय (परमात्ममय) होनेके कारण अवश्य यह तत्स्वरूप (परमात्मस्वरूप) ही है। और इस दृढ़ निश्चयके द्वारा इस जगत्को 'ॐके वाच्यार्थभूत परमात्मामें विलीन कर डाले। इसके बाद चतुर्विध शरीरकी सृष्टिके लिये निम्नाङ्कित प्रकारसे सकलीकरण करे। 'ओम्' का उच्चारण अनेक प्रकारसे होता है—एक तो केवल मकारपर्यन्त उच्चारण होता है, दूसरा बिन्दुपर्यन्त, तीसरा नादपर्यन्त और चौथा शक्तिपर्यन्त होता है। फिर उच्चारण बंद हो जानेपर उसकी 'शान्त' संज्ञा होती है। सकलीकरणकी क्रिया आरम्भ करते समय पहले 'ओम्' का उपर्युक्त रीतिसे शान्तपर्यन्त उच्चारण करके 'शान्त्यतीतकलात्मने साक्षिणे नमः' इस मन्त्रसे व्यापक न्यास करते हुए 'साक्षी' का चिन्तन करे। फि शक्तिपर्यन्त प्रणवका उच्चारण करके 'शान्तिकलाशक्तिपरावागात्मने सामान्यदेहाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए अन्तर्मुख, सत्स्वरूप, ब्रह्मज्ञानरूप सामान्य देहका चिन्तन करे। फिर प्रणवका नादपर्यन्त उच्चारण करके 'विद्याकलानादपश्यन्तीवागात्मने कारणदेहाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए प्रलय, सुषुप्ति एवं ईक्षणावस्थामें स्थित किञ्चित् बहिर्मुख सत्स्वरूप कारणदेहका चिन्तन करे। फिर प्रणवका बिन्दुपर्यन्त उच्चारण करके 'प्रतिष्ठाकलाबिन्दुमध्यमावागात्मने सूक्ष्मदेहाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए सूक्ष्मभूत, अन्तःकरण, प्राण तथा इन्द्रियोंके संघातरूप सूक्ष्मशरीरका चिन्तन करे। फिर प्रणवका मकारपर्यन्त उच्चारण करके 'निवृत्तिकलाबीजवैखरीवागात्मने स्थूलशरीराय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए पञ्चीकृत भूत एवं उसके कार्यरूप स्थूलशरीरका चिन्तन करे।

४. यहाँ 'आधार' शब्द पीठ तथा उसके भी आधारभूत स्थान आदिका बोधक है। उपर्युक्त प्रकारसे उत्पन्न हुआ यह चतुर्विध देह भगवान्का सपरिकर पीठ अर्थात् आसन तथा मूर्ति है—इस प्रकारकी भावना करनेके लिये 'आधार' शब्दके द्वारा परिकरसहित पीठन्यासकी तथा 'अमृतमय' कहकर मूर्तिन्यासकी सूचना दी गयी है। सच्चिदानन्द पूर्णात्मरूपिणी जो इच्छा, ज्ञान, क्रिया, स्वातन्त्र्य एवं सत्स्वरूपिणी भगवान्की पराशक्ति है, वही मूर्ति है। इस अमृतमयी मूर्तिकी भावनासे परिपूर्ण होना ही 'अमृतमय' होना है। पीठ आदिकी कल्पनाका प्रकार यों बताया गया है—'ॐ चतुरशीतिकोटिप्राणिजात्यात्मने ब्रह्मवनाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए केश, रोम आदिको एक 'वन' के रूपमें भावनाद्वारा देखे। 'ॐ पञ्चभूतनामरूपात्मकेभ्यः प्राकारेभ्यो नमः' इससे व्यापक करते हुए पञ्चीकृत पञ्चभूत एवं नाम-रूपात्मक सात धातुओंको सात प्राकारों (परकोटों)-के रूपमें कल्पित करे। 'ॐ नवच्छिद्रात्मभ्यो नवद्वारेभ्यो नमः' इससे व्यापक करते हुए प्रत्येक प्राकार (घेरे)-में नौ-नौ गोपुरों (द्वारों)-के रूपमें शरीरके नौ छिद्रोंको ही मान ले। इसी प्रकार स्थूलशरीरको स्थान मानकर सूक्ष्मशरीरको महाराजराजेश्वर आत्माका परिचारक माने। फिर निम्नाङ्कितरूपसे 'संवित्' को राजराजेश्वरद्वार, सकाम-निष्काम वृत्तियोंको द्वारदेवता, काम-वैराग्यको द्वारपाल, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंको राजपरिचारक, मनको राजदूत आदिके रूपमें मानकर 'ॐ संविद्रूपेभ्यो राजराजेश्वरद्वारेभ्यो नमः', 'सकामाकामवृत्तिभ्यो द्वारदेवताभ्यो नमः', 'कामवैराग्याभ्यां द्वारपालाभ्यां नमः', 'दिगग्न्याद्यात्मकश्रोत्रादीन्द्रियरूपिभ्यो राजपरिचारकेभ्यो

अमृतमय, चतुरात्मा[१], सर्वमय[२] एवं चतुरात्मा[३] होकर | महान्[४] पीठके ऊपर परिवारसहित[५] इस प्रणवरूप

नमः', 'चन्द्रात्मकाय मनसे राजदूताय नमः', 'ब्रह्मरूपिण्यै सर्वकार्यनिश्चयकर्त्र्यै बुद्ध्यै नमः', 'रुद्ररूपाय सर्वकार्याभिमानकर्त्रेऽहंकाराय नमः', 'विष्णुरूपाय सर्वकार्यानुसंधानकर्त्रे चित्ताय नमः', 'सर्वेश्वररूपाय सर्वाधिकारिणे प्राणाय नमः'—इस प्रकार न्यास, जप अथवा भावना करके सूक्ष्मशरीरको भगवान्‌की सेवाका उपकरण बनाकर 'गुणत्रयात्मने प्रासादाय नमः' इस मन्त्रसे त्रिगुणमय प्रासाद (महल)-की कल्पना करे। फिर बिन्दुपर्यन्त प्रणवका उच्चारण करके 'परमात्मासनाय नमः' इस मन्त्रसे उसका अपने हृदयके भीतर न्यास करे। साथ ही यह भावना करे कि यह भगवान्‌के विराजनेके लिये सुन्दर आसन है। तत्पश्चात् पहले बताये हुए किञ्चिद्बहिर्मुख सत्स्वरूप कारण-शरीरको गुणोंकी साम्यावस्थारूप पीठके रूपमें कल्पित करे। फिर शक्तिपर्यन्त प्रणवका उच्चारण करके 'परमात्ममूर्तये नमः' इस मन्त्रके द्वारा हृदयसे लेकर मस्तकपर्यन्त व्यापक न्यास करते हुए पूर्वोक्त सच्चिदानन्दरूप, अन्तर्मुख सामान्यशरीरमय ब्रह्मको ही भगवान्‌की मूर्तिके रूपमें चिन्तन करे। वह मूर्ति ज्ञानपराशक्तिरूपा है। उसके चार हाथ हैं—जो शङ्ख, चक्र, गदा और ज्ञानकी मुद्रासे शोभा पा रहे हैं। सब प्रकारके अलङ्कार उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। वह मूर्ति आत्मानन्दानुभवके समुद्रमें गोते लगा रही है।

१. अ, उ, म् तथा ॐ—ये क्रमशः स्थूल देह, सूक्ष्मदेह, कारणदेह तथा सामान्य देह हैं; इन चारोंका जो आत्मरूपसे चिन्तन करता है, वही चतुरात्मा है।

२. 'सर्वमयः'के 'सर्व' शब्दसे सर्वात्मक विराट् आदि चारों पादोंका प्रतिपादन होता है; इन सर्वात्मक पादोंका न्यास करनेसे साधक सर्वमय होता है। न्यासका क्रम इस प्रकार है—'ऐश्वर्यशक्त्यात्मने द्युलोकाय नमः' इससे दाहिने हाथकी अँगुलियोंद्वारा मस्तकका स्पर्श करे। इसी प्रकार 'ज्ञानशक्त्यात्मने सूर्याय नमः' इससे नेत्रका, 'संहारशक्त्यात्मनेऽग्नये नमः' इससे मुखका, 'क्रियाशक्त्यात्मने वायवे नमः' इससे नासिकाका, 'सर्वाश्रयशक्त्यात्मने आकाशाय नमः' इससे हृदयका, 'इच्छाशक्त्यात्मने प्रजापतये नमः' इससे गुह्यप्रदेश (उपस्थ एवं गुदा)-का तथा 'सर्वाधारशक्त्यात्मने पृथिव्यै नमः' इससे चरणोंका स्पर्श करे। यह सप्ताङ्गन्यास है। पादन्यासका ध्यान और मन्त्र आगे बतायेंगे। इसके बाद उन्नीस मुखोंमें भी न्यास किया जाता है। पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—ये उन्नीस मुख हैं। प्राण-न्यासके मन्त्र इस प्रकार हैं—'प्रणयनशक्त्यात्मने प्राणाय नमः', 'अपनयनशक्त्यात्मने अपानाय नमः', 'व्यानयनशक्त्यात्मने व्यानाय नमः', 'उन्नयनशक्त्यात्मने उदानाय नमः' तथा 'समनयनशक्त्यात्मने समानाय नमः'। इन्द्रियादिन्यासके मन्त्र इस प्रकार हैं—'अनुसन्धानशक्त्यात्मने नमः', 'निश्चयशक्त्यात्मने नमः', 'अहङ्कारशक्त्यात्मने नमः', 'सङ्कल्पशक्त्यात्मने नमः', 'श्रवणशक्त्यात्मने नमः', 'स्पर्शनशक्त्यात्मने नमः', 'दर्शनशक्त्यात्मने नमः', 'रसनशक्त्यात्मने नमः', 'घ्राणशक्त्यात्मने नमः', 'वचनशक्त्यात्मने नमः', 'आदानशक्त्यात्मने नमः', 'गमनशक्त्यात्मने नमः', 'विसर्गशक्त्यात्मने नमः', 'आनन्दशक्त्यात्मने नमः'। इन मन्त्रोंद्वारा क्रमशः चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका, वाक्, हाथ, पैर, लिङ्ग और गुदा आदिमें उन-उनकी शक्तियोंके रूपमें भगवान्‌का ही निवास है—ऐसी भावना करे। इसके बाद निम्नाङ्कित पाँच मन्त्रोंको पढ़ते हुए व्यापकन्यासपूर्वक चार पादोंका ध्यान करे—

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं जागरितस्थानाय स्थूलप्रज्ञाय सप्ताङ्गायैकोनविंशतिमुखाय स्थूलभुजे चतुरात्मने विश्वाय वैश्वानराय पृथिव्यृग्वेदब्रह्मवसुगायत्रीगार्हपत्याकारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने प्रथमपादाय नमः॥ १॥

ॐ ज्वलन्तं सर्वतोमुखं स्वप्नस्थानाय सूक्ष्मप्रज्ञाय सप्ताङ्गायैकोनविंशतिमुखाय सूक्ष्मभुजे चतुरात्मने तैजसाय हिरण्यगर्भायान्तरिक्षयजुर्वेद-विष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षिणाग्न्युकारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने द्वितीयपादाय नमः॥ २॥

ॐ नृसिंहं भीषणं भद्रं सुषुप्तस्थानायैकीभूताय प्रज्ञानघनायानन्दमयायात्मानन्दभुजे चेतोमुखाय चतुरात्मने प्रज्ञायेश्वराय द्युसामवेदरुद्रादित्यजगत्याहवनीयमकारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने तृतीयपादाय नमः॥ ३॥

ॐ मृत्युमृत्युं नमाम्यहं सर्वेश्वराय सर्वज्ञाय सर्वशक्तये सर्वान्तर्यामिणे सर्वात्मने सर्वयोनये सर्वप्रभवाय सर्वाप्ययाय सोमलोकाथर्ववेदसंवर्तकाग्निमरुद्विराडेकष्योङ्कारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने चतुर्थपादाय नमः॥ ४॥

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। नान्तःप्रज्ञायाबहिष्प्रज्ञायानुभयप्रज्ञायाप्रज्ञायनाप्रज्ञाया-प्रज्ञानघनायादृष्टायाव्यवहार्यायाग्राह्यायालक्षणायाचिन्त्यायाव्यपदेश्यायैकात्म्यप्रत्ययसारायामात्राय प्रपञ्चोपशमाय शिवाय शान्तायाद्वैताय सर्वसंहारसमर्थाय परिभवासहाय प्रभवे व्याप्ताय सदोज्ज्वलायाविद्याकार्यहीनाय स्वात्मबन्धहराय सर्वदा द्वैतरहितायानन्तरूपाय सर्वाधिष्ठानसन्मात्राय निरस्ताविद्यातमोमोहायाकृत्रिमाहंविमर्शायोङ्काराय तुरीयतुरीयाय नमः॥ ५॥

इसके बाद पुनः प्रणवसे एक बार व्यापक करके निम्नाङ्कितरूपसे अङ्गन्यास करे—

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं पृथिव्यृग्वेदब्रह्मवसुगायत्रीगार्हपत्याकारभूरग्न्यात्मने सर्वज्ञानशक्त्यात्मने हृदयाय नमः। ॐ ज्वलन्तं सर्वतोमुखमन्तरिक्षयजुर्वेदविष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षिणाग्न्युकारभुवःप्रजापत्यात्मने नित्यतृप्त्यैश्वर्यशक्त्यात्मने शिरसे स्वाहा। ॐ नृसिंहं भीषणं भद्रं द्युसामवेदरुद्रादित्यजगत्याहवनीयमकारस्वःसूर्यात्मनेऽनादिबोधशक्त्यात्मने शिखायै वषट्। ॐ मृत्युमृत्युं नमाम्यहं सोमलोकाथर्ववेद-संवर्तकाग्निमरुद्विराडेकष्योङ्कारभूर्भुवःस्वर्ब्रह्मात्मने स्वातन्त्र्यबलशक्त्यात्मने कवचाय हुम्। ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् ओंकारभास्वत्यलुप्तवीर्यशक्त्यात्मने नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। पृथिव्यकारग्वेदब्रह्मवसुगायत्रीगार्हपत्यान्तरिक्षोङ्कारयजुर्वेदविष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षिणाग्निद्युमकार-सामवेदरुद्रादित्यजगत्याहवनीयसोमलोकोङ्काराथर्ववेदसंवर्तकाग्निमरुद्विराडेकर्षिभास्वतीसत्यात्मनेऽनन्ततेजःशक्त्यात्मनेऽस्त्राय फट्।

३. चतुरात्मा होकर अर्थात् चतुर्मूर्तिरूपसे आत्माका ही पूजन करके, मूर्तिचतुष्टयमें व्यापक परमानन्दबोधके सिन्धु साक्षीका ध्यान करते हुए उन्हींमें मूर्तिचतुष्टयके निमग्न होनेकी भावना करे। यही आत्मपूजा है।

४. महापीठ बहिर्मुख, सदात्मक तथा गुणबीजस्वरूप है। मूलाधारपर स्थित क्रमशः द्वात्रिंशत्-दल, अष्टदल एवं चतुर्दल कमल—इस प्रकार उस महापीठकी आकृति है।

५. पृथिव्यादि, अन्तरिक्षादि, द्युलोकादि और सोमलोकादि जो चतुर्विध अष्टक हैं, वे ही बत्तीस होकर बत्तीस दलोंमें स्थित हैं। अष्टदल कमलमें सत्, चित्, आनन्द, पूर्ण, आत्मा, अद्वैत, प्रकाश और विमर्श—इनकी स्थिति है; तथा चतुर्दल कमलमें ब्रह्मसर्वेश्वर,

परमात्माका, जो चतुःसप्तात्मा,[१] चतुरात्मा[२] तथा मूलाधारसहित अग्निमण्डलमें अग्निरूप[३] हैं, सम्यक् प्रकारसे चिन्तन करे।

सप्तात्मा चतुरात्मा अकाररूप ब्रह्माका नाभिमें चिन्तन करे;[४] सप्तात्मा चतुरात्मा उकाररूप विष्णुका हृदयमें, सप्तात्मा चतुरात्मा मकाररूप रुद्रका भ्रूमध्यमें, सप्तात्मा चतुरात्मा चतुःसप्तात्मा एवं चतुरात्मा ॐकाररूप सर्वेश्वरका द्वादशान्तमें चिन्तन करे।[५] सप्तात्मा, चतुरात्मा, चतुःसप्तात्मा, चतुरात्मा एवं आनन्दामृतरूप ओङ्कारका षोडशान्तमें चिन्तन करे।[६] तदनन्तर इन सबका पूर्वोक्त

विष्णुसर्वेश्वर, रुद्रसर्वेश्वर तथा सर्वेश्वर-सर्वेश्वर—इन चारोंका अवस्थान है। ये ही सब मिलकर परिवार कहे गये हैं।

१. अकार, उकार, मकार तथा ओङ्कारसे सम्बद्ध पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और सोमलोक हैं—इन चारोंके साथ वेद, देवता आदि सात-सातका समुदाय है; इसीको लक्ष्यमें रखकर 'चतुःसप्तात्मा' कहा गया है। यद्यपि ये आठ-आठ हैं, तथापि अकार आदिकी गणना न करनेसे सात-सात होते हैं।

२. समष्टि-व्यष्टिगत स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चतुर्विध स्वरूपोंसे विशिष्ट होनेके कारण उन्हें चतुरात्मा बताया गया है।

३. अग्निका अर्थ यहाँ चिन्मय प्रकाश समझना चाहिये। 'अग्निरूप' कहनेसे यह ध्वनित होता है कि प्रणवके ध्यानमें हाथ-पैर आदिसे युक्त विग्रहकी कल्पना न करके प्रलयकालीन अग्नि एवं सूर्यके सदृश प्रकाशमय स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये।

४. लोक, वेद, देवता, गण, छन्द, अग्नि और व्याहृतिरूपसे तो अकार सप्तात्मा है और स्थूल, सूक्ष्म, बीज एवं साक्षीरूपसे चतुरात्मा है। यही बात उकार आदिके सम्बन्धमें भी है। 'सप्तात्मा' के साथ भी पूर्ववत् 'परिवारसहित' इस विशेषणका सम्बन्ध है। इसी प्रकार आगेके वाक्योंमें भी समझना चाहिये। यहाँ अष्टदल कमलमें अकारके सम्बन्धीरूपसे बताये गये जो अकारसहित पृथिवी आदि आठ हैं, वे मानो 'अनुष्टुप्-मन्त्र' के प्रथम पादके आठ अक्षररूप हैं; उन्हींमें स्थित साङ्गोपाङ्ग वेदोंका और चतुर्दल कमलमें स्थित ब्रह्मब्रह्मा, ब्रह्मविष्णु, ब्रह्मरुद्र और ब्रह्मसर्वेश्वरका यहाँ परिवाररूपसे चिन्तन करना चाहिये। आठ दलोंके भीतर पूर्वादि दिशाओंके दलोंमें तो चारों वेदोंका चिन्तन करना चाहिये और अग्निकोणमें व्याकरण आदि छः वेदाङ्गोंका, नैर्ऋत्यकोणमें मीमांसाका, वायव्यकोणमें न्यायका और ईशानकोणमें इतिहास, पुराण, आगम (तन्त्र), काव्य, नाटक आदिका चिन्तन करना चाहिये। इसी प्रकार चतुर्दल कमलके चार दलोंमेंसे पूर्वमें ब्रह्मसर्वेश्वर, दक्षिणमें ब्रह्मरुद्र, उत्तरमें ब्रह्मविष्णु और पश्चिममें ब्रह्मब्रह्माका चिन्तन करे। इसी प्रकार आगे भी चार मूर्तियोंकी स्थिति समझनी चाहिये। तात्पर्य यह कि प्रणवस्थ अकार जिनका स्वरूप है, ऐसे रजःप्रधान, चन्द्रमण्डलवर्ती श्रीब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मसर्वेश्वरका सरस्वती मूलप्रकृतिके सहित नाभिमें यानी तेजोमण्डलके मध्यभागमें—अष्टदल कमलके मध्यवर्ती चतुर्दल कमलकी कर्णिकामें ध्यान करे।

५. इसी तरह उकारके सम्बन्धीरूपमें बताये हुए जो अन्तरिक्ष आदि सात हैं, उनकी दृष्टिसे सप्तात्मा और स्थूल आदि भेदसे चतुरात्मा उकार ही जिनका स्वरूप है, जो श्रीमूलप्रकृतिके साथ हैं, सत्त्वप्रधान हैं और सूर्यमण्डलके मध्यमें स्थित हैं, उन श्रीविष्णुसर्वेश्वरका, हृदयके अष्टदल कमलमें ध्यान करे। उकारके सम्बन्धीरूपसे वर्णित अन्तरिक्ष आदि अष्टकरूप जो अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वितीय पादके आठ अक्षर हैं, वे प्रत्येक दलमें स्थित हैं और उनके भीतर क्रमशः वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलभद्र, श्रीकृष्ण और कल्कि—ये आठ परिवार हैं। उस अष्टदल कमलके मध्यगत चतुर्दल कमलकी मध्य-कर्णिकामें श्रीविष्णुसर्वेश्वरका ध्यान करना चाहिये। इसी प्रकार मकारसम्बन्धी जो द्युलोक आदि अष्टक हैं, वे ही मकारकी गणना न करनेसे सात होते हैं और उन्हींकी दृष्टिसे मकार सप्तात्मा है तथा पूर्ववत् स्थूल-सूक्ष्म आदि भेदसे वह चतुरात्मा है। तादृश मकारस्वरूप रुद्रसर्वेश्वरका भ्रूमध्यमें ध्यान करे। वे उमारूपा मूलप्रकृतिके साथ विराजमान हैं; उनमें तमोगुणकी प्रधानता है और वे अग्निमण्डलमें स्थित हैं। भ्रूमध्यगत अष्टदल कमलके आठ दलोंमें द्युलोकादिरूप अष्टक ही मानो अनुष्टुप्-मन्त्रके तृतीय पादके आठ अक्षररूपमें स्थित हैं और उनमें शर्व, भव, पशुपति, ईशान, भीम, महादेव, रुद्र एवं उग्र ही परिवाररूपमें विराजमान हैं। इस अष्टदलके भीतर चतुर्दल कमलकी मध्यकर्णिकामें मकारस्वरूप रुद्रसर्वेश्वरका ध्यान करना चाहिये।

६. मकारसम्बन्धी अर्धमात्राके सम्बन्धसे बतायी हुई जो सोमलोक आदि आठ वस्तुएँ हैं, उनमें मात्राकी गणना न होनेसे वे सात होते हैं; उनकी दृष्टिसे ओंकार सप्तात्मा है और पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म आदि भेदसे चतुरात्मा है। इसके सिवा सम्पूर्ण ॐकारमें अ, उ, म् और अर्धमात्रा—ये चार मात्राएँ हैं; इनमें प्रत्येक मात्राके साथ एक-एक सप्तकका सम्बन्ध है। ओङ्कारमें वे सभी अन्तर्भूत हैं, अतः यह चतुःसप्तात्मा भी है। पहले अर्धमात्राकी दृष्टिसे स्थूलादि-भेदविशिष्ट ओङ्कारको चतुरात्मा कहा गया है; किंतु सम्पूर्ण ओङ्कार भी स्थूल-सूक्ष्म आदि चार भेदोंवाला है, अतः दुबारा उसके लिये 'चतुरात्मा' विशेषण दिया गया है। ऐसे तुरीय प्रणवरूप ओङ्कारका, जो गुणोंकी साम्यावस्थारूप उपाधिसे युक्त एवं शक्ति-मण्डलमें स्थित और मूल-प्रकृतिरूपा मायाके सहित है, द्वादशान्तमें अर्थात् बत्तीस दलोंवाले कमलमें चिन्तन करे। मूलाधारस्थ बत्तीस दलोंमें बताये हुए पूर्वोक्त देवता ही यहाँ परिवार हैं। बत्तीस दलवाले कमलके भीतर सद् आदि अष्टविध मूर्तियोंसे युक्त अष्टदलकमल है तथा उसकी भी कर्णिकामें व्याप्त चतुर्दल कमलके भीतर ब्रह्मसर्वेश्वर आदि चार मूर्तियाँ स्थित हैं; उसकी मध्यकर्णिकामें ॐकाररूप सर्वेश्वरका ध्यान करना चाहिये। पूर्वोक्त गुणोंवाले ओङ्कारका ही, जो तुरीय तथा आनन्दामृतस्वरूप है, षोडशान्तमें चिन्तन करे। अधोमुख द्वात्रिंशद्दल, अष्टदल एवं चतुर्दल कमलोंसे तथा उनमें बताये हुए पूर्वोक्त देवतारूप परिवारोंसे युक्त पीठको ही यहाँ षोडशान्त कहा गया है। यह आनन्दामृतरूप तुरीय गुणबीजरूप उपाधिसे युक्त एवं शक्ति-मण्डलमें स्थित है।

आनन्दामृतद्वारा चार प्रकारसे अर्थात् देवता, गुरु, मन्त्र और आत्मारूपमें पूजन करके और ब्रह्माका ही, विष्णुका ही, रुद्रका ही, पृथक्-पृथक् इन तीनोंका ही और एक साथ भी इन तीनोंका ही तथा ज्योतिर्मय लिङ्गरूपमें ही देवता, गुरु, मन्त्र और आत्मारूपसे चार बार भलीभाँति नाना प्रकारकी भेंट-सामग्रियोंसे पूजन करे। फिर प्रणवके उच्चारणद्वारा उन लिङ्गोंका उपसंहार कर सबको एकीभूत करके अमृतका अभिषेक करे और उस सर्वदेवमय तेजको बढ़ाये।*

उक्त सर्वदेवतामय तेजसे त्रिविध—स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप शरीरको व्याप्त करके उनके अधिष्ठानभूत आत्माको सब ओरसे प्रकाशित करे अर्थात् सर्वव्यापक आत्माका तेजोमय स्वरूपमें चिन्तन करे। फिर उस तेजका—आत्मचैतन्यरूप बलका निरोध करके उसके गुणोंसे अर्थात् स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व, साक्षित्व आदि पूर्वोक्त गुणोंसे वाच्य-वाचक (परमात्मा एवं ओङ्कार)-की पूर्ववत् एकता करे। तदनन्तर महास्थूलको महासूक्ष्ममें और महासूक्ष्मको महाकारणमें विलीन करके अकार, उकार और मकार—इन मात्राओंसे (जो क्रमशः विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वररूपा हैं) एकका दूसरीमें लय करते हुए सबका तुरीय ओङ्कारमें लय करे। फिर पूर्ववत् ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्पका चिन्तन करते हुए सबको अविकल्पमें लीन करके अविकल्परूप परमात्माका चिन्तन करे और उन्हींमें सबका उपसंहार कर दे।

* यहाँ चतुर्मूर्तियोग, ब्रह्मयोग, विष्णुयोग, रुद्रयोग, भेदयोग, अभेदयोग और लिङ्गयोगका क्रमशः उल्लेख हुआ है। प्रणवका उच्चारण करके अमृतका स्राव करे। अमृत-स्राव भावनाका विषय है। पूर्वोक्त ब्रह्मसर्वेश्वर आदि चारों मूर्तियोंकी, नाना प्रकारकी भेंट-सामग्रियोंसे, चतुर्विध पूजा करके उन मूर्तियोंको तेजसे प्रकट हुई मानकर उनका तेजोमय चार लिङ्गरूपसे चिन्तन करे तथा मन्त्रराज नारसिंहसहित प्रणवका उच्चारण करके भावनाद्वारा उक्त चारों लिङ्गोंको एक रूपमें परिणत करके उसपर अमृतका स्राव करे—यह चतुर्मूर्तियोग है। 'ब्रह्माका ही' इस वाक्यांशके द्वारा ब्रह्मयोग सूचित किया गया है। जिस प्रकार चतुर्मूर्ति-योगमें चार स्थानोंमें चार मूर्तियोंका चिन्तन, पूजन, उन तेजोमयी मूर्तियोंका उपसंहार, एकीकरण और अमृत-स्राव आदि विधि बतायी गयी है, उसी प्रकार इस ब्रह्मयोगमें केवल सरस्वतीरूप मूलप्रकृतिसहित सपरिवार ब्रह्मसर्वेश्वरका ही चिन्तन और पूजन आदि करने चाहिये। 'विष्णुका ही' इस वाक्यांशसे विष्णुयोग सूचित किया गया है। पूर्वोक्त चारों मूर्तियोंकी जगह चारों स्थानोंमें विष्णुसर्वेश्वरका ही मूल-प्रकृति श्री तथा परिवारसहित चिन्तन करके पूजन आदि करना विष्णुयोग है। 'रुद्रका ही' इस वाक्यांशसे रुद्रयोगकी सूचना दी गयी है। यहाँ भी चार मूर्तियोंकी जगह चारों स्थानोंमें उमारूपा मूलप्रकृति और पूर्वोक्त परिवारसहित श्रीरुद्रसर्वेश्वरका ही ध्यान एवं पूजन आदि कर्तव्य है। 'विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् रूपमें इन तीनोंका ही' इस वाक्यांशसे भेदयोग सूचित किया गया है। यहाँ चारों स्थानोंमें तीनों प्रकृतियों तथा त्रिविध परिवारोंसहित उक्त ब्रह्मसर्वेश्वर आदि तीनों मूर्तियोंका ही चिन्तन और पूजन आदि करे। इस योगमें सर्वत्र द्वात्रिंशद्दल, अष्टदल और चतुर्दल कमलोंको पूर्वोक्त देवताओंसे विशिष्ट रूपमें ही चिन्तन करना चाहिये। इनमें ब्रह्मा पीतवर्ण और चार मुखोंवाले हैं। उनके चार भुजाएँ हैं और हाथोंमें क्रमशः स्रुक्-स्रुवा, अक्षमाला, दण्ड और कमण्डलु धारण किये हुए हैं। उनके साथ श्वेतवर्णा सरस्वती हैं, जिनके हाथोंमें अक्षमाला, पुस्तक, मुद्रा और कलश शोभा पाते हैं। भगवान् विष्णुका विग्रह विद्युत्के समान कान्तिमान् है; वे अपने चार हाथोंमें चक्र, शङ्ख, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं। उनके साथ रक्तवर्णा लक्ष्मी हैं—जिनके हाथोंमें दो कमल, श्रीफल और अभयकी मुद्रा है। भगवान् शिवकी कान्ति श्वेत है। वे अपने चार हाथोंमें परशु, हरिण, शूल और कपाल धारण किये हुए हैं। उनके साथ श्यामवर्णा उमा हैं—जो पाश, अङ्कुश, अभय और वर धारण करती हैं। तीनों मूर्तियोंको एक ही पीठपर विराजमान समझना चाहिये। शक्तियोंको उनके अङ्कमें अथवा वाम ऊरुपर बैठी हुई ध्यानमें देखे। कमलके आठ दलोंमेंसे प्रत्येक दलमें वेदादि, वराहादि, शर्वादि तथा सद् आदि इन चतुर्विध अष्टावरणोंका चिन्तन करना चाहिये। 'एक रूपमें भी इनका ही' इस वाक्यांशके द्वारा अभेदयोगकी सूचना दी गयी है। ब्रह्मा आदि तीनोंको एक विग्रहमें ही देखकर अर्थात् इन्हें एक रूप ही मानकर चारों स्थानोंमें इनका चिन्तन और पूजन आदि करे। इनके साथ शक्तियोंकी अविभक्तरूप मूलप्रकृति माया और पूर्वोक्त परिवारोंका भी चिन्तन करना चाहिये। ब्रह्मा आदि तीनोंकी जहाँ एकता है, वही सर्वेश्वर-विग्रह है; अतः यहाँ सर्वेश्वर और मायाशक्तिका ही चिन्तन है। सर्वेश्वरके तीन मुख और छः बाहु हैं। वे अपनी भुजाओंमें हरिण, परशु, शङ्ख, चक्र, अक्षमाला और दण्ड धारण किये हुए हैं। उनके श्रीविग्रहका वर्ण अनिर्देश्य है, वाणीद्वारा उसका कोई स्पष्ट निर्देश नहीं हो सकता। उनकी शक्तिभूता जो माया प्रकृति है, वह भी तीन मुख और छः भुजाओंवाली है। उसके हाथोंमें पाश, अङ्कुश, कमल, कमल-मुद्रा और पुस्तक हैं। उसकी कान्ति भी अनिर्देश्य है। 'लिङ्गरूपमें ही' इस वाक्यांशके द्वारा लिङ्गयोग सूचित किया गया है; शक्ति और परिवारसहित ब्रह्मा आदिका सर्वत्र ज्योतिर्मय लिङ्गरूपसे चिन्तन और पूजनादि करे, यही लिङ्गयोग है। इन सबके पूजनकी विधि और मन्त्रोंका उल्लेख श्रीविद्यारण्यमुनिद्वारा विरचित दीपिका नामक व्याख्यामें विस्तारके साथ हुआ है। जिज्ञासु साधक वहींसे उनका संग्रह कर सकते हैं। यहाँ अधिक विस्तारके भयसे उल्लेख नहीं किया जा सका है।

चतुर्थ खण्ड

अपने आत्माका पहले तुरीय-तुरीयरूपसे और पीछे भगवान् नृसिंहके रूपमें ध्यान करके ब्रह्मके साथ अपने-आपको एकीभूत करनेकी विधि

पूर्वोक्त इस आत्मा एवं परब्रह्मरूप ओङ्कारको, जो ओतादिरूपसे प्रसिद्ध तुरीय ओङ्कारके पूर्वभागमें साक्षीरूपसे प्रकाशमान है, मन्त्रराज अनुष्टुप्का '**नमामि**' पदतक उच्चारण करके, उसके द्वारा नमस्कार करके प्रसन्न करे। प्रसन्न करके भावनाद्वारा संसारके उपसंहारकी शक्ति प्राप्त करे। फिर चार मात्राओंवाले ओङ्कारका उच्चारण करते हुए पहले बताये अनुसार विराट्, तैजस आदिका उत्तरोत्तरमें संहार करके अनुष्टुप्-मन्त्रके अवशिष्ट '**अहम्**' पदका उच्चारण करते हुए अपने आत्माका तुरीय-तुरीयरूपसे ध्यान करे।

इसके अनन्तर इस आत्मा एवं परब्रह्मरूप ओङ्कारको ही, जो ओत-अनुज्ञातृ आदिरूपसे प्रसिद्ध तुरीय ओङ्कारके पूर्वभागमें साक्षीरूपसे प्रकाशित हो रहा है तथा जो उग्र, वीर आदि ग्यारह पदोंके गुणोंसे युक्त एकादशात्मा नारसिंह-मन्त्रस्वरूप हैं, उन्हें नमस्कार करके ओङ्कारका उच्चारण करते हुए ओतादिका अनुज्ञातृ आदिमें लय करे। फिर तुरीय-तुरीयको उपलब्ध करके '**उग्रम्**' आदि एक-एक पदसे उग्रत्व आदि गुणोंसे विशिष्टरूपमें भी उन्हींका चिन्तन करते हुए अपने आत्मारूपसे भगवान् नृसिंहका ध्यान करे।

तदनन्तर इस आत्मा एवं परब्रह्मरूप ओङ्कारका ही, जो ओत-अनुज्ञातृ आदिरूपसे प्रसिद्ध तुरीय ओङ्कारके अग्रभागमें साक्षीरूपसे प्रकाशित हो रहा है, प्रणवके द्वारा ही भलीभाँति चिन्तन करके अनुष्टुप्-मन्त्रके '**उग्रम्**' से लेकर '**मृत्युमृत्युम्**' तक नौ पदोंके साथ सत्, चित्, आनन्द, पूर्ण और आत्मा—इन ब्रह्मके पाँचों स्वरूपोंमेंसे प्रत्येकका सम्बन्ध होनेसे जो पञ्चविध नवात्मक स्वरूपवाले हैं, ऐसे सच्चिदानन्दपूर्णात्मस्वरूप परमानन्दमय परब्रह्मका भलीभाँति ध्यान करे।* तत्पश्चात् अनुष्टुप्-मन्त्रके '**अहम्**' इस पदके द्वारा अपनेको ग्रहण कर '**नमामि**' इस पदके द्वारा नमस्कार करके ब्रह्मके साथ अपने-आपको एकीभूत कर दे।†

अथवा केवल अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वारा ही भगवान्की सर्वात्मता और सर्वरूपताका चिन्तन करे। ये भगवान् ही 'नृ' (आत्मा) हैं; ये ही सर्वत्र सर्वदा सबके आत्मा हैं। ये ही सिंह (बन्धननाशक) हैं। वे ही श्रुति-स्मृति आदिमें प्रसिद्ध परमेश्वर हैं। क्योंकि वे सर्वत्र सर्वदा सबके आत्मरूपसे विराजमान होकर सबके अज्ञान आदिको अपना ग्रास बनाते हैं—सभीका अज्ञान दूर करके उन्हें अपना स्वरूप बना लेते हैं। अत: सबके आत्मा (नृ) तथा 'सि' बन्धनका 'ह' अर्थात् नाशक होनेके कारण ये ही एकमात्र नृसिंह हैं। ये ही तुरीय हैं। ये ही उग्र हैं। ये ही वीर हैं। ये ही महान् हैं। ये ही विष्णु हैं। ये ही ज्वलन् (सब ओरसे देदीप्यमान) हैं। ये ही सर्वतोमुख हैं। ये ही नृसिंह हैं। ये ही भीषण (वायु, सूर्य तथा मृत्युको भी भयभीत करनेवाले) हैं। ये ही भद्र (परम कल्याण एवं आनन्दके निकेतन) हैं तथा ये ही मृत्युके भी मृत्यु हैं। ये ही '**नमामि**' (परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको आच्छादित करनेवाले अज्ञानसे शून्य) हैं और ये ही '**अहम्**' पदके एकमात्र आश्रय हैं। इस प्रकार पहले बतायी हुई उपासनासे तथा यहाँ अनुष्टुप्-पाद-मिश्रित उपासनासे प्रणवमय परमात्माके ध्यानयोगमें आरूढ हो ब्रह्मस्वरूप ओङ्कारमें ही अनुष्टुप्-मन्त्रको अन्तर्भूत करके सब कुछ ओङ्कार ही है—इस प्रकार प्रणववाच्य परमात्माका चिन्तन करे।

इसी विषयमें दो मन्त्र हैं, जिनका अन्वय और अर्थ इस प्रकार है—**सिंहम्**=जो वस्तुत: समस्त बन्धनोंको काटनेवाला एवं अविचल होकर भी उपाधिवश या अविवेकके कारण चञ्चल-सा प्रतीत हो रहा है, ऐसे 'सिंह' नामसे कहे हुए आत्माको; **संस्तभ्य**=अपनी ही महिमामें स्थिर करके; **गुणर्धान्**=स्थूलत्व और स्थूलभोक्तृत्व आदि पूर्वोक्त गुणोंसे

---

* ध्यानके समय उच्चारणके योग्य वाक्य इस प्रकार होगा—ॐ उग्रं सच्चिदानन्दपूर्णप्रत्यक्सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्म चिन्तयामि। ॐ वीरं सच्चिदानन्दपूर्णप्रत्यक्सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्म चिन्तयामि। इसी प्रकार 'मृत्युमृत्युम्' पदतक नौ वाक्य होंगे। इसके बाद फिर इसी क्रमसे 'सदात्मानम्' की जगह 'चिदात्मानम्' कर दिया जायगा; उसके भी नौ वाक्य होंगे। फिर 'आनन्दात्मानम्' कर देनेसे उसके भी नौ वाक्य होंगे। इसी प्रकार 'पूर्णात्मानम्' और 'प्रत्यगात्मानम्' का भी क्रमश: सन्निवेश करनेमें ९-९ वाक्य और भी होंगे।

† नमस्कार-वाक्य भी इसी प्रकार ४५ हो सकते हैं। उदाहरणके लिये एक लिख दिया जाता है—'ॐ उग्रं सच्चिदानन्दपूर्णप्रत्यक्सदात्मानं (चिदात्मानं इत्यादि) नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि।' ब्रह्मके साथ आत्माको एकीभूत करना भावनाद्वारा ही होता है।

समृद्ध होकर जो वैश्वानर आदि स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं, ऐसे; **स्वसुतान्**=स्व अर्थात् आत्माके ही स्थूल विश्व आदि पुत्रोंको (जो परमात्माके प्रथम आदि पाद हैं); **ऋषभस्य**=वेदोंमें प्रधान प्रणवकी; **शृङ्गैः**=अकार आदि मात्राओंसे; **संयोज्य**=परस्पर समानताके कारण संयुक्त करके अर्थात् पहले बताये अनुसार ॐकारकी मात्राओं तथा परमात्माके प्रथम-द्वितीय आदि पादोंकी एकताका अनुभव करके; **हत्वा**=स्थूलका सूक्ष्ममें और सूक्ष्मका कारणमें लय करते हुए इसी क्रमसे सबका तुरीयमें संहार करके; **वश्याम् (कृत्वा)**=वहाँ कारणरूपा मायाको पूर्वोक्त ओतयोगके द्वारा अपने वशमें करके; **स्फुरन्तीम् (मत्वा)**=अनुज्ञातृ-योगके द्वारा 'आत्मसत्ताके अधीन ही उसकी सत्ता और स्फूर्ति है' ऐसा अनुभव करके; **असतीम् (कृत्वा)**=अनुज्ञायोगके द्वारा उसकी पृथक् सत्ताका अभाव-सा करके; **निपीड्य**=उसे साक्षी चैतन्यमें निमग्न (विलीन) कर दे। यों करनेके पश्चात्; **सिंहेन संभक्ष्य**=अज्ञान आदिसे सर्वथा असम्पृक्त विशुद्ध बोधमय परमात्माके साक्षात्कारद्वारा उस मायाके आवरणको छिन्न-भिन्न करके अथवा मन्त्रराज नारसिंहके जपद्वारा तुरीय-तुरीय परमात्माका चिन्तन करते हुए भगवान् और उनके मन्त्रके प्रभावसे मायाका सर्वथा संहार करके; **[यः स्थितो भवति**=जो स्थित होता है;] **स एष वीरः**=वही यह उपासक वीर है—उसको कभी संसारसे पराभव नहीं प्राप्त होता।

शृङ्गप्रोतान्=प्रणवकी मात्राओंसे व्याप्त चतुःसप्तात्मा विराट् आदि तथा ब्रह्मसर्वेश्वर आदिको; **पदा स्पृष्ट्वा**=अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रत्येक पादसे संयुक्त करके अर्थात् प्रणवकी मात्राओं तथा अनुष्टुप्के पादोंकी पूर्ववत् एकताका चिन्तन करके; **हत्वा**=क्रमशः उनका पूर्वोक्त रीतिसे संहार करके; **ताम्**=उस कारणरूपा मायाको; (जिसने) **स्वयम् अग्रसन्**=स्वयं ग्रस लिया अर्थात् पूर्वोक्तरूपसे परमात्मतत्त्वके अनुभवसे मायाका सर्वथा संहार कर दिया; [**सः**=वह विद्वान् उपासक;] **नत्वा**=इसी खण्डमें बतायी हुई रीतिसे भगवान्को नमस्कार करके; **च**=तथा; **बहुधा दृष्ट्वा**=मन्त्रराज नारसिंहके पदोंके अनुसार उग्र, वीर आदि बहुत-से रूपोंमें भगवान्का साक्षात्कार करके; **स्वयं नृसिंहः सन् उद्बभौ**=स्वयं नृसिंहस्वरूप होकर अथवा मनुष्योंमें श्रेष्ठ होकर उद्भासित होता है अथवा उसके समक्ष स्वयं भगवान् नृसिंह तेजोमय स्वरूपसे प्रकट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार ये मन्त्र हैं। इन दो मन्त्रोंमें प्रथमसे लेकर चतुर्थ खण्डतकके अभिप्रायका संक्षेपतः संग्रह हो गया है।

पञ्चम खण्ड

अनुष्टुप्-मन्त्रका ओंकारमें अन्तर्भाव करके उसीके द्वारा परमात्माके चिन्तनकी विधि

(पहले बताया गया है कि अनुष्टुप्-मन्त्रका ओङ्कारमें अन्तर्भाव करके उसीके द्वारा परमात्माका चिन्तन करे। अब प्रश्न होता है कि कैसे अनुष्टुप्का प्रणवमें अन्तर्भाव हो और किस प्रकार उसके द्वारा परमात्माका चिन्तन हो। इस जिज्ञासाका समाधान करनेके लिये इस खण्डका आरम्भ हुआ है। 'अथ' शब्द प्रकरणके आरम्भका सूचक है।) ओङ्कारकी प्रथम मात्रारूप यह अकार आप्तम (अतिशय व्यापक) अर्थवाला ही है। अतः यह आप्तम (अतिशय व्यापक) अर्थवाले आत्मामें ही संगत होता है; सबके आत्मा भगवान् नृसिंहमें—नृसिंह नामसे प्रसिद्ध परब्रह्ममें ही यह गतार्थ होता है; क्योंकि यह अकार ही आप्तम (अतिशय व्यापक) है। यही साक्षी है। यही ईश्वर है। अतः यह सर्वगत है—सर्वत्र व्यापक है; इससे भिन्नरूपमें यह सम्पूर्ण जगत् कोई अस्तित्व नहीं रखता; क्योंकि यही व्याप्ततम—अतिशय व्यापक है। यह सब जो कुछ दिखायी देता है, यह आत्मा ही है। जो यह आत्मा है, वही यह सब कुछ है। जो कुछ प्रतीत होता है, सब मायामात्र है। आत्मा या अकारसे भिन्न रूपमें इसकी सत्ता नहीं है। यह अकार ही उग्र है; क्योंकि यही व्याप्ततम—अतिशय व्यापक है। यह अकार ही वीर है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही महान् है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही विष्णु है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही ज्वलन् (सब ओर देदीप्यमान) है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही सर्वतोमुख है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही नृसिंह है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही भीषण है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही भद्र है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही मृत्युमृत्यु है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार

ही '**नमामि**' (आत्मतत्त्वका आच्छादन करनेवाले अज्ञानसे शून्य) है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही '**अहम्**' है; क्योंकि यही व्याप्ततम है।

जो इस प्रकार जानता है, वह नित्यमुक्त आत्मा ही हो जाता है। वह नृसिंहस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। वह कामनारहित होता है। उसके मनसे सब लौकिक कामनाएँ निकल जाती हैं। उसे सम्पूर्ण कामनाओंका फल प्राप्त हो जाता है—उसके मनमें किसी भी वस्तुको पानेकी इच्छा शेष नहीं रहती। वह केवल आत्माकी ही कामना रखता है, अनात्माकी नहीं। मृत्युके पश्चात् उसके प्राण उत्क्रमण (कर्म-फलभोगके लिये ऊपरके लोकोंमें गमन) नहीं करते; यहीं—आत्मामें ही एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं। वह पहलेसे ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्मको ही प्राप्त होता है (केवल ब्रह्मसे भिन्न होनेका भ्रममात्र दूर होता है)।

यह ॐकारकी दूसरी मात्रा जो उकार है, वह उत्कृष्टतम (अतिशय श्रेष्ठ) अर्थवाला ही है। अतः यह अतिशय श्रेष्ठ अर्थवाले आत्मामें अर्थात् नृसिंहदेवस्वरूप परब्रह्ममें ही गतार्थ होता है। इसलिये यह उकार सत्यस्वरूप है। इससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु सत्य नहीं है। असत् होनेके कारण वह सब अमेय है—उसमें मान-सम्बन्धकी योग्यताका अभाव है। वह अनात्मप्रकाश है—दूसरेसे प्रकाशित होनेवाली वस्तु है; उसमें स्वयं अपनेको प्रकाशित करनेकी क्षमता न होनेसे वह असत् है। यह उकारस्वरूप आत्मा स्वप्रकाश है—अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला है। ('मैं हूँ' इस तथ्यको हृदयङ्गम करनेके लिये अन्य प्रकाश या प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती; इसका अनुभव स्वतः होता है।) असङ्ग है; अतः अपने सिवा दूसरी किसी अनात्म वस्तुको नहीं देखता। इसीलिये इसे अन्य किसी नामसे ख्याति नहीं प्राप्त हुई; यह केवल सर्वोत्कृष्ट आत्ममात्र है। यह आत्मस्वरूप उकार ही अनुष्टुप्-मन्त्रका अङ्गभूत उग्र है—उसके उग्रत्व-गुणसे विभूषित है; क्योंकि यही उत्कृष्ट (सर्वश्रेष्ठ) है। यह उकार ही वीर है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही महान् है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही विष्णु है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही ज्वलन् (सब ओरसे देदीप्यमान) है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही सर्वतोमुख है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही नृसिंह है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही भीषण है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही भद्र है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही मृत्युमृत्यु है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही '**नमामि**' है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही '**अहम्**' है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। इसलिये आत्माको ही उकारके रूपमें जाने।

जो इस प्रकार जानता है, वह आत्मा ही होता है—श्रीनृसिंहदेवस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। वह कामनासे रहित होता है। उसके मनसे सब लौकिक कामनाएँ निकल जाती हैं। उसे सम्पूर्ण कामनाओंका फल प्राप्त हो जाता है—उसके मनमें किसी भी वस्तुको पानेकी इच्छा शेष नहीं रहती। वह केवल आत्माकी ही कामना रखता है, अनात्माकी नहीं। मृत्युके पश्चात् उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते (कर्मफलभोगके लिये ऊपरके लोकोंमें गमन नहीं करते), यहीं—आत्मामें ही एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं। वह पहलेसे ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्मको प्राप्त होता है (केवल ब्रह्मसे भिन्न होनेका भ्रममात्र दूर होता है)।

ओङ्कारकी यह तीसरी मात्रा जो मकार है, वह महाविभूति (असीम ऐश्वर्य)-के अर्थमें है। यह महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न आत्मामें—श्रीनृसिंहदेवस्वरूप ब्रह्ममें ही गतार्थ होता है। इसलिये यह मकाररूप आत्मा अनल्प (महान्) है, अभिन्न रूप (अद्वितीय) है, स्वप्रकाश—अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला है तथा यह मकारस्वरूप आत्मा ब्रह्म ही है। यही अतिशय व्यापक और अतिशय श्रेष्ठ है। यह ब्रह्म ही सर्वज्ञ, महामायावी तथा महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही उग्र है; क्योंकि यही महाविभूति (परमैश्वर्य)-से सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही वीर है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही महत् है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही विष्णु है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही ज्वलन् (सब ओरसे देदीप्यमान) है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही सर्वतोमुख है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही नृसिंह है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही भीषण है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही भद्र है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप

ब्रह्म ही मृत्युमृत्यु है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही '**नमामि**' है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही '**अहम्**' है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है।

इसलिये अकार और उकारके द्वारा इस अतिशय व्यापक, अतिशय उत्कृष्ट, चिन्मात्रस्वरूप, सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, सबको अपनेमें लीन करनेवाले, सबकी प्रीतिके एकमात्र आश्रय, केवल सच्चिदानन्दमय, एकरस आत्माका—जो इस सत्, चित् आदिके वाच्यभेदसे होनेवाली भेद-प्रतीतिके पूर्वसे ही सबके साक्षीरूपमें भलीभाँति प्रकाशित है—अनुसन्धान (चिन्तन) करके मकारके द्वारा उसे अतिशय व्यापक, अतिशय उत्कृष्ट, चिन्मात्रस्वरूप, महामायायुक्त, महाविभूतिसम्पन्न केवल सच्चिदानन्दमय एकरस परब्रह्मरूपमें ही जाने। जो इस प्रकार जानता है, वह आत्मा ही होता है; वह श्रीनृसिंहदेवस्वरूप परब्रह्म ही हो जाता है। वह कामनासे रहित होता है। उसके मनसे समस्त कामनाएँ निकल जाती हैं। उसे सम्पूर्ण कामनाओंका फल प्राप्त हो जाता है—उसके मनमें किसी भी वस्तुको पानेकी इच्छा शेष नहीं रहती। वह केवल आत्माकी कामना रखता है, अनात्माकी नहीं। उस विद्वान् उपासकके प्राण कर्मफलभोगके लिये ऊपरके लोकोंमें गमन नहीं करते, यहीं—आत्मामें ही एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं। वह पहले ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्मको प्राप्त होता है (उसका ब्रह्मसे भिन्न होनेका भ्रममात्र दूर होता है)। इस प्रकार उन प्रसिद्ध प्रजापतिने देवताओंसे कहा।

षष्ठ खण्ड

अपने-आपको प्रणवके वाच्यार्थ परब्रह्ममें विलीन करनेकी विधि

(प्रजापतिके द्वारा पूर्वोक्त उपदेश सुननेके अनन्तर) उन देवताओंने परमात्मतत्त्वका अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करनेकी इच्छा की (अतः तदनुकूल साधन—ध्यान आदिमें लग गये)। इसी समय पापात्मा असुर-भावने (विषयासक्ति, अविवेक और अभिमान आदिके रूपमें वहाँ आकर) उन प्रसिद्ध देवताओंको सब ओरसे ग्रस लिया—उन्हें ध्यानसे हटाकर विषयोंकी ओर प्रवृत्त कर दिया। (किंतु कुछ साधन कर लेनेसे उनका विवेक जाग्रत् हो चुका था; अतः) वे देवता सोचने लगे—"अहो! इस पापात्मा असुर-भावको (जो हमारे पुरुषार्थ-साधनमें विघ्न डाल रहा है) हम ही क्यों न अपना ग्रास बना लें—परमात्म-चिन्तनमें लगकर इसे नष्ट क्यों न कर डालें। इस प्रकार विचार करके उन्होंने ओंकारके सम्मुख प्रकाशित होनेवाले इन्हीं तुरीय-तुरीय परमात्माको, जो उग्र भी हैं और अनुग्र (शान्त) भी, वीर भी हैं और अवीर भी, महान् भी हैं और अमहान् (लघु) भी, विष्णु (व्यापक) भी हैं और अविष्णु (अव्यापक) भी, 'ज्वलन्' (सब ओरसे प्रकाशमान) भी हैं और अज्वलन् (अप्रकाशमान) भी, सर्वतोमुख (सब ओर मुखोंवाले) भी हैं और असर्वतोमुख भी, नृसिंह (बन्धननाशक आत्मारूप) भी हैं और अनृसिंह भी; भीषण (भयानक) भी हैं और अभीषण (सौम्य) भी, भद्र भी हैं और अभद्र भी; मृत्युमृत्यु भी हैं और अमृत्युमृत्यु भी; '**नमामि**' (अज्ञानशून्य) भी हैं और '**अनमामि**' भी; '**अहम्**' भी हैं और '**अनहम्**' भी; उन्हें श्रीनृसिंहदेवसम्बन्धी अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही जान लिया। तब उनके ऊपर आक्रमणके लिये आया हुआ वह पूर्वोक्त पापात्मा असुर-भाव तुरीय-तुरीय परमात्माके चिन्तनके प्रभावसे स्वयं भी सच्चिदानन्दघन ज्योतिःस्वरूप हो गया। इसलिये जिसके अन्तःकरणका मल अथवा वासना-जाल परिपक्व होकर नष्टप्राय नहीं हो गया है, वह इन्हीं ओंकारके सम्मुख प्रकाशमान तुरीय-तुरीय परमात्माको श्रीनृसिंहदेव-सम्बन्धी अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही जान ले। इससे उसके अन्तःकरणमें प्रकट हुआ पापात्मा असुर-भाव सच्चिदानन्दघन ज्योतिःस्वरूप हो जाता है।"

इस प्रकार कारणात्मक ज्योतिःस्वरूपताको प्राप्त हुए वे देवगण (अन्तःकरणके अत्यन्त शुद्ध हो जानेके कारण) उस ज्योतिसे भी ऊपर उठनेके इच्छुक हुए; क्योंकि द्वितीयसे वे भयको ही देख रहे थे। फिर तो उन्होंने ओंकारके सम्मुख प्रकाशित होनेवाले इन्हीं तुरीय-तुरीय परमात्माका श्रीनृसिंहदेवसम्बन्धी अनुष्टुप्-मन्त्रद्वारा अनुसन्धान करके प्रणवके द्वारा ही उनमें स्थिति प्राप्त की। उन्हें प्राप्त हुई वह कारणात्मक ज्योति इस सम्पूर्ण कार्य-कारणमय जगत्के पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित, प्रतीतिके अविषय, अद्वितीय, अचिन्त्य, अलिङ्ग, स्वप्रकाश, आनन्दघन, विशेषशून्य परब्रह्मस्वरूप

ही हो गयी। इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् स्वप्रकाश परब्रह्म ही हो जाता है।

(इस प्रकार तुरीय-तुरीय परमात्मामें निष्ठाकी योग्यता प्राप्त हो जानेपर) वे देवता पुत्रैषणा (पुत्र-कामना), वित्तैषणा (धन-कामना) और लोकैषणा (लोकमें सम्मान, यश आदिकी कामना)-से तथा उन्हें चरितार्थ करनेके साधनोंसे भी ऊपर उठकर—उन सबकी इच्छा और प्रयत्नका सर्वथा त्याग करके, घरोंसे निकलकर अहंकाररहित एवं परिग्रहशून्य हो, शिखा और यज्ञोपवीतका भी त्याग करके—संन्यासी होकर अन्धे, बहरे, भोले-भाले, नपुंसक, गूँगे और पागलोंकी भाँति इधर-उधर विचरते हुए, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान (और श्रद्धा)—इन छः साधन-सम्पत्तियोंसे सम्पन्न होते हुए आत्मामें ही रमण, आत्मासे ही क्रीडा, आत्मासे ही संयोग और आत्मामें ही आनन्दका अनुभव करते हुए तथा प्रणवको ही स्वप्रकाश, विशेषणशून्य, परब्रह्म जानते हुए उसीमें लीन हो गये। इसलिये देवताओंके व्रतका आचरण करते हुए प्रणवके वाच्यार्थभूत परब्रह्ममें विलीन हो जाय। इस प्रकार जानने और करनेवाला विद्वान् आत्मासे ही आत्माको परब्रह्मरूपमें देखता है। इस विषयमें यह श्लोक है—

शृङ्गेष्वशृङ्गं संयोज्य सिंहं शृङ्गेषु योजयेत्।
शृङ्गाभ्यां शृङ्गमाबद्ध्य त्रयो देवा उपासते॥

शृङ्गेषु=प्रणवकी अकार, उकार और मकार—इन मात्राओंमें; **अशृङ्गम् संयोज्य**=अवयवशून्य तुरीय परमात्माका संयोग करके अर्थात् परमात्माको ही ओंकारका वाच्यार्थ जानकर; **सिंहम्**=नृसिंहदेवतासम्बन्धी मन्त्रराज अनुष्टुप्को; **शृङ्गेषु योजयेत्**=प्रणवकी अकारादि मात्राओंमें नियुक्त करे अर्थात् मन्त्रराज अनुष्टुप्को प्रणवमें ही अन्तर्भूत करे। तत्पश्चात्; **शृङ्गाभ्याम्**=प्रणवकी दो मात्राओं—अकार-उकारद्वारा; **शृङ्गम्**=प्रणवकी एक मात्रा—मकारको; **आबद्ध्य**=बाँधकर अर्थात् मकारमें उनके लयकी भावना करते हुए तीनों मात्राओंकी एकताका बोध एवं चिन्तन करके; **त्रयो देवा उपासते**=तीनों देवता (उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारी) ऊँची स्थिति प्राप्त कर लेते हैं (इस प्रकार इस श्लोकमें पाँचवें-छठे खण्डोंका सारांश आ गया है)।

सप्तम खण्ड

परमात्मा तथा आत्माकी एकताका अनुभव एवं चिन्तन करनेका प्रकार

कहते हैं, देवताओंने प्रजापतिसे कहा—'भगवन्! पुनः हमें ज्ञानोपदेश कीजिये।' यह सुनकर प्रजापति बोले—'तथास्तु।' फिर उन्होंने इस प्रकार उपदेश देना प्रारम्भ किया—आत्मा अज (जन्मरहित), अमर (मृत्युरहित), अजर (जरारहित), अमृतस्वरूप, अभय, अशोक (शोकहीन), अमोह (मोहशून्य), अनशनाय (भूखरहित), अपिपास (प्याससे रहित) तथा अद्वैत है और अकार इन सभी विशेषण-शब्दोंका आदिभूत है; अतः अकारके द्वारा इस अजत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट आत्माका अनुसन्धान (चिन्तन) करके[1], फिर उदुत्कृष्ट[2] (अतिशय श्रेष्ठतम), उदुत्पादक (सबके स्रष्टा), उदुत्प्रवेष्टा (परमात्मारूपसे संसारकी सृष्टि करके जीवरूपसे प्रवेश करनेवाला), उदुत्थापयिता (नियन्तारूपसे सबको मर्यादामें स्थापित करनेवाला), उदुद्द्रष्टा (विष्णुरूपसे पालन करते समय सदा सबपर विशेषरूपसे दृष्टि रखनेवाला), उदुत्कर्ता (सर्वोत्कृष्ट कर्ता), उदुत्पथवारक (स्वयं बुद्धि, विवेक और सहारा देकर सबको सदा कुमार्गसे निवृत्त करनेवाला), उदुद्ग्रासक (रुद्ररूपसे सबके परम संहारक), उदुद्भ्रान्त (कारणरूपसे सर्वत्र व्यापक) तथा उदुत्तीर्णविकृति (साक्षीरूप होनेसे सब विकारोंके ऊपर उठे हुए) होनेके कारण उकारके द्वारा परम-सिंह[3] (परब्रह्म)-का अनुसन्धान (चिन्तन) करे। (सारांश यह कि ब्रह्म उत्कृष्टत्व आदि गुणोंसे युक्त है, अतः ये 'उदुत्कृष्ट' आदि शब्द उन-उन

---

१. आगे आनेवाले 'आत्मना एकीकुर्यात्' (आत्मासे एकाकार करे) इस वाक्यके साथ सम्बन्ध होनेपर वाक्य पूरा होता है। यहाँ आत्माके दस विशेषण दिये गये हैं। उनमें चारके द्वारा उसमें देहधर्मका निराकरण किया गया है। फिर तीनके द्वारा बुद्धि-धर्मका, दोके द्वारा प्राण-धर्मका और एकके द्वारा सामान्यतः सभी प्रकारके धर्मोंका निषेध किया गया है।

२. उत्कृष्टत्वधर्मादुत्कृष्टत्वे सति उत्कृष्टत्वम् उदुत्कृष्टत्वम्=उत्कर्षसूचक धर्ममात्रसे उत्कृष्टता रखकर जो उत्कृष्टत्व होता है, वही 'उदुत्कृष्टत्व' है। सब प्रकारके सांसारिक धर्मोंसे रहित होते हुए सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट होना ही ब्रह्मकी उदुत्कृष्टता है।

३. बन्धनकारक अज्ञानका नाशक होनेसे 'सिंह' शब्द ब्रह्मका वाचक है।

गुणोंसे विभूषित ब्रह्मके वाचक हैं तथा 'उदुत्कृष्ट' आदि सभी विशेषणोंका आदि अक्षर उकार है; अत: यह उकार भी तत्तच्छब्दस्वरूप ही है। इस प्रकार समानाधिकरणता होनेसे उकारके द्वारा परब्रह्मका चिन्तन करना चाहिये।) तत्पश्चात् अकारस्वरूप इस आत्माको उकारके पूर्वार्धभागस्वरूप ब्रह्मके प्रति आकृष्ट करे—आत्माकी ब्रह्मके साथ एकता करे अर्थात् आत्माको ब्रह्मस्वरूप जाने। फिर उकारके उत्तरार्धभाग अर्थात् उत्तर मात्राद्वारा पूर्वोक्त ब्रह्मको ग्रहण करके मकारके अर्थभूत इस आत्माके साथ एकीभूत करे—ब्रह्म और आत्माको एक जाने। प्रणवकी तीसरी मात्रा मकारके द्वारा आत्माका ग्रहण इसलिये किया जाता है कि मकार और आत्मा दोनों ही महत् (सर्वव्यापी), महस् (चिन्मय तेजसे युक्त), मान (सर्वसाधक प्रमाणस्वरूप), मुक्त (सब प्रकारके बन्धन और परतन्त्रतासे सर्वथा शून्य), महादेव (परप्रकाशमय), महेश्वर (सर्वनियन्ता), महासत्, महाचित्, महानन्द—अर्थात् असीम सच्चिदानन्दमय तथा महाप्रभु (संनिधि एवं सत्तामात्रसे सबके प्रवर्तक) रूप हैं। आत्मा महत्त्वादि गुणोंसे विशिष्ट है और मकार 'महत्' आदि शब्दोंका आदि होनेके कारण तत्तत्स्वरूप है। जो यों जानता है, वह शरीररहित, इन्द्रियरहित, प्राणरहित, तम (मोह एवं अज्ञान)-से रहित तथा शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप स्वराट् (स्वयम्प्रकाश ब्रह्म) हो जाता है।

जब कोई किसीसे पूछता है कि 'तुम कौन हो?' तब वह '**अहम्**' (मैं हूँ) ऐसा उत्तर देता है। इसी प्रकार यह समस्त प्राणिसमुदाय '**अहम्**' कहकर ही अपनेको सूचित करता है। अत: '**अहम्**' यह सबका वाचक है। इस '**अहम्**' का आदि अक्षर यह प्रणवकी प्रथम मात्रारूप अकार है। अत: यह अकार भी सबका वाचक होनेसे सर्वरूप है; वह पूर्वोक्त प्रकारसे जाननेवाला विद्वान् वही (सर्वस्वरूप ही) हो जाता है। सम्पूर्ण जगत् यह आत्मा ही है; क्योंकि यह सबका अन्तरात्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् बिना आत्माके नहीं रह सकता। अत: आत्मा ही यह सब कुछ है। अत: सर्वात्मक अकारके साथ सर्वात्मक आत्माका अनुसंधान (चिन्तन) करे। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही यह सब जगत् है। यह सब कुछ सच्चिदानन्दस्वरूप है।

निश्चय ही यह सब कुछ सत्स्वरूप है; क्योंकि 'तत् सत् (वह है)' ऐसी प्रतीति सबको होती है। निश्चय ही यह सब कुछ चित् (चिन्मय) है; 'घट प्रकाशित होता है, पट प्रकाशित होता है' इत्यादि रूपमें सब कुछ प्रकाशस्वरूप (चिन्मय) ही प्रतीत होता है। देवताओ! क्या तुमने समझ लिया कि 'सत्' क्या है? (देवता बोले—) यह-यह सत् है अर्थात् 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाली घट-पट आदि सभी वस्तुएँ सत् हैं। (प्रजापतिने कहा—) नहीं। 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाला सम्पूर्ण जगत् ही असत् (नाशवान्) है; अत: वह सत् नहीं है। 'अनुभूति' ही सत् है। यदि पूछो कि 'यह अनुभूति क्या है?' तो सुनो। '**इयम्-इयम्**' (यह-यह अनुभूति है) यों कहनेसे अनुभूतिका ज्ञान नहीं होता। अनुभूति वाणीका विषय नहीं है, इसलिये प्रजापतिने बिना कुछ कहे ही स्वयं अनुभव करते हुए देवताओंको उसका स्वरूप बताया, स्वत:सिद्ध स्वरूप ही अनुभूति है—यह बात देवताओंको समझायी। इसी प्रकार 'चित्' और 'आनन्द' को भी बिना कुछ कहे ही स्वयं अनुभव करते हुए प्रजापतिने देवताओंसे बताया। तात्पर्य यह कि स्वत:सिद्ध स्वरूप शुद्ध-बुद्ध आत्मा ही चित् और आनन्द है, 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाला प्राकृत दृश्य प्रपञ्च नहीं। इसी प्रकार ब्रह्मके अन्य सब लक्षण भी स्वत:सिद्ध आत्मस्वरूपके ही बोधक हैं। उनका वाणीद्वारा प्रकाशन नहीं हो सकता, वे सब अनुभवैकगम्य हैं; परंतु केवल मौन हो जानेसे देवता ब्रह्मका स्वरूप अच्छी तरह समझ न सके, इसलिये प्रजापति 'आनन्द' शब्दके द्वारा ब्रह्मके स्वरूपका (लक्षणासे) परिचय कराते हैं—वह ब्रह्म परम आनन्द है। उस ब्रह्मका नाम है—'ब्रह्म'। इस 'ब्रह्म' शब्दमें अन्तिम अक्षर मकार है; अत: यह भी ब्रह्म शब्दस्वरूप ही है। इसलिये मकारके द्वारा परम ब्रह्मका अनुसंधान (चिन्तन) करे।

जब कोई किसीसे पूछता है कि 'क्या यह बात ऐसी ही है?' तब वह मनुष्य, यदि उसको पूछे हुए विषयमें संशय नहीं रहता, तो 'उ' (हाँ, ऐसा ही है) इस प्रकार दृढ़तापूर्वक उत्तर देता है। अत: 'उ' अवधारणार्थक (दृढ़ निश्चयका सूचक) है। इसलिये अ, उ, म्—इन तीन मात्राओंमेंसे अकारके द्वारा इस आत्माका अनुसन्धान (ग्रहण) करके मकारस्वरूप ब्रह्मके साथ उसकी एकता करे और उकारके द्वारा इस एकताके विषयमें निस्संदेह होकर अपना निश्चय प्रकट करे अर्थात् अ (आत्मा) उ (निश्चय ही) म् (ब्रह्म है) इस प्रकार निश्चितरूपसे जान ले। जो इस प्रकार जानता है, वह शरीररहित, इन्द्रियरहित, प्राणरहित एवं अज्ञानरहित,

केवल सच्चिदानन्दमय स्वप्रकाश आत्मा हो जाता है।

'निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है; क्योंकि वह अत्ता (कारणरूपसे सबका संहर्ता), उग्र (संहारशक्तिसे विशिष्ट), वीर (पराभवको सहन न करनेवाला), महान्, विष्णु (व्यापक), ज्वलत् (सब ओरसे प्रकाशमान), सर्वतोमुख (सर्वव्यापी), नृसिंह (बन्धननाशक परमात्मा), भीषण (काल, वायु और सूर्य आदिको भी भयभीत करनेवाला), भद्र (परम कल्याणमय), मृत्युका भी मृत्यु, नमामि (अज्ञानशून्य) और 'अहम्' ('अहम्' इस नामका परम आश्रय) है।

निश्चय ही यह ब्रह्म सतत—देश, काल और वस्तुकी सीमासे रहित है; क्योंकि वह उग्र, वीर, महत्, विष्णु, ज्वलत्, सर्वतोमुख, नृसिंह, भीषण, भद्र, मृत्युमृत्यु, नमामि तथा अहम् है।* इसलिये प्रणवस्थ अकारके द्वारा परम ब्रह्मका अनुसन्धान (चिन्तन) करके मकारके द्वारा मन आदिके रक्षक तथा मन आदिके साक्षी आत्माका अन्वेषण (चिन्तन) करे। वह साक्षी आत्मा जब सुषुप्ति-अवस्थामें इस कार्य-कारणमय सम्पूर्ण जगत्की उपेक्षा—इसके प्रति अहंता और ममताके भावका त्याग कर देता है, तब यह सब इस ब्रह्मस्वरूप आत्मामें प्रवेश कर जाता—लीन हो जाता है; इससे पृथक् जगत्की सत्ता नहीं रहती और जब यह जागता है, तब यह सब जगत् फिर इसीसे प्रकट हो जाता है। यह आत्मा अपनेसे ही प्रकट हुए इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको कुछ कालतक अपनेमें ही स्थापित करके रखता है। फिर अपनेमें ही इसका संहार करके इसको सब ओर व्याप्त कर लेता है। तत्पश्चात् इसे चिन्मय प्रकाशस्वरूपमें परिणत करके अपनेमें ही लीन कर लेता है। इस प्रकार इन समस्त पदार्थोंको ही यह आत्मस्वरूपता प्रदान करता है। (यह सब करनेकी इसमें पूर्ण शक्ति है; क्योंकि) यह अतिउग्र, अतिवीर, अतिमहान्, अतिविष्णु (अतिशय व्यापक), अतिज्वलन् (अत्यन्त प्रकाशमय), अति-सर्वतोमुख, अतिनृसिंह, अतिभीषण, अतिभद्र, अतिमृत्युमृत्यु, अतिनमामि (अज्ञानसे अत्यन्त दूर) और अतिअहम् ('अहम्' पदका अन्तिम लक्ष्य) होकर सदा अपनी महिमामें ही स्थित रहता है। इसलिये इस आत्माको अकारके अर्थभूत परब्रह्मके साथ एकीभूत करे और उकारके द्वारा इस एकताके प्रति संदेहरहित हो जाय। (फिर उस ब्रह्मका मकारके अर्थभूत आत्माके साथ भी एकताका अनुभव और चिन्तन करे।) जो इस प्रकार जानता है, वह शरीररहित, इन्द्रियरहित, प्राणरहित तथा अज्ञानरहित केवल सच्चिदानन्दमय स्वयंप्रकाश परमात्मस्वरूप हो जाता है। इस विषयमें यह श्लोक है—

शृङ्गं शृङ्गार्धमाकृष्य शृङ्गेणानेन योजयेत्।
शृङ्गमेनं परे शृङ्गे तमनेनापि योजयेत्॥

(इस श्लोकमें इस खण्डके भीतर कही हुई सभी बातें साररूपसे आ गयी हैं।)

शृङ्गम्=प्रणवकी प्रथम मात्रा अकारके अर्थभूत आत्माको; **शृङ्गार्धम् आकृष्य**=द्वितीय मात्रा उकारके पूर्वार्ध—ब्रह्मके प्रति आकृष्ट करके अर्थात् आत्मा और ब्रह्मकी एकताका अनुभव करके; **अनेन शृङ्गेण योजयेत्**=फिर मकारके अर्थभूत इस आत्माके साथ उकारके उत्तरार्धस्वरूप ब्रह्मको भी संयुक्त करे अर्थात् ब्रह्मकी आत्माके साथ एकताका चिन्तन करे; **एनम् शृङ्गम्**='अहं' शब्दके आदिभूत प्रणवस्थ अकारके अर्थरूप आत्माको; **परे शृङ्गे**=ब्रह्मशब्दके अन्तिम अक्षर मकारसे अभिन्न जो प्रणवस्थ मकार है, उसके अर्थभूत ब्रह्मके साथ (उकारद्वारा एकीभूत करे); **तम्**=उस अन्तिममात्रारूप परमात्माको, जो प्रणवके अकारद्वारा प्रतिपाद्य है; **अनेन अपि योजयेत्**=इस मन आदिके रक्षक एवं साक्षी प्रणवस्थ मकारके अर्थभूत आत्माके साथ संयुक्त करे अर्थात् परमात्मा और आत्माकी एकताका अनुभव एवं चिन्तन करे।

अष्टम खण्ड

भयरहित ब्रह्मरूप हो जानेकी विधि

पिछले खण्डोंमें प्रणवकी विभक्त (पृथक्-पृथक् की हुई) मात्राओंद्वारा आत्मा एवं परमात्माका प्रतिपादन किया गया। अब तुरीयस्वरूप अविभक्त प्रणवके द्वारा 'ओत', 'अनुज्ञातृ', 'अनुज्ञा' और 'अविकल्प' रूपसे आत्मतत्त्वके बोधका प्रकार बतलाया जाता है। यह प्रसिद्ध है कि यह ब्रह्मस्वरूप† आत्मा सर्वत्र ओत और

* यहाँ भी उग्र आदि पदोंका भाव वैसा ही है, जैसा ऊपर बताया गया है।

† सिंहका अर्थ है—ब्रह्मस्वरूप। 'सिं' अर्थात् बन्धनकारक अज्ञानको 'ह' अर्थात् नष्ट करनेवाला ज्ञानस्वरूप ब्रह्म।

प्रोत है (सामान्यतः सत्‌रूपसे सबमें 'ओत' और चिदानन्दस्वरूपसे सबमें 'प्रोत' है। ओत-प्रोतका अर्थ है—पूर्णतः व्यापक)। इस ब्रह्ममय आत्मामें सम्पूर्ण जगत् है; क्योंकि यह सबका आत्मा है। इसीलिये यह सर्वस्वरूप है। (अतएव व्याप्य-व्यापकभाव भी नहीं बन सकता। जब कोई व्याप्य हो, तभी उसमें व्यापक रह सकता है। जब सब कुछ आत्मा ही है, तब व्याप्य कहाँसे आया। इसीलिये श्रुति कहती है—) वास्तवमें आत्मा ओत (व्यापक) नहीं है। निश्चय ही यह आत्मा अद्वितीय है। (अद्वितीय होनेके कारण ही इसे 'ओत' अर्थात् व्यापक भी कहा गया है।) आत्मा एकमात्र ही है। इसीलिये इसे 'अद्वय' कहा गया है। (अद्वितीयता भी व्यवहारमात्र ही है और समस्त व्यवहार कल्पित हैं; किंतु आत्मा इन कल्पनाओंसे रहित है। अतः) यह अविकल्प है—निर्विशेष है। कोई भी वस्तु, जो आत्मासे भिन्न है, सत् नहीं है। अतएव यह आत्मा 'ओत' अर्थात् व्यापकके तुल्य है—व्याप्यकी सत्ता न होनेके कारण यह आत्मा वस्तुतः व्यापक न होकर व्यापकके सदृश है। यह आत्मा 'सद्घनस्वरूप' है (घट-सत्ता पट-सत्ता आदि रूपसे जो सत्‌के भेद प्रतीत होते हैं, वे वास्तविक नहीं, औपाधिक हैं। घट-पटादि वस्तुओंमें भेद है, सत्तामें नहीं)। इसी प्रकार यह आत्मा चिद्घन और आनन्दघन भी है। (सत्-चित् और आनन्द—इन तीन नामोंसे प्रतिपादित होकर भी) यह वास्तवमें एकरस है। यह किसी भी एक शब्द या एक नामके द्वारा व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता; क्योंकि आत्मा एकमात्र—अद्वितीय है। (इसके समान दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, जिससे इसकी तुलना हो सके। अतएव यह वाणीका विषय नहीं है।)

(इस प्रकार आत्माको सर्वत्र ओत-प्रोत बतलाकर अब ॐकारकी सर्वव्यापकता बतलाते हैं—) यह ओङ्कार ओत और प्रोत (व्यापक) है; क्योंकि जब कोई किसी मनुष्यसे पूछता है कि 'क्या यह बात ऐसी ही है? क्या यह बात ऐसी नहीं है?' तो उसके उत्तरमें वह ओम् (हाँ)-का ही उच्चारण करता है। (अतः सबका वाचक होनेके कारण ओङ्कार सर्वत्र व्यापक है।) निश्चय ही वाणीमात्र ॐकार है। यह सब कुछ वाणीमात्र ही है। इस जगत्‌में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो बिना शब्दके—बिना नामके हो।* निश्चय ही यह ॐकार चिन्मय है (चित्‌का अर्थ है चेतना—बोध; ॐकार परमात्माका बोधक है, अतएव चिन्मय है)। यह सब जो कुछ प्रतीत होता है, चिन्मय ही है। इसलिये परमात्माके लक्षणभूत चिन्मयत्वसे युक्त होनेके कारण यह ॐकार परमेश्वर ही है। इस प्रकार परमेश्वर और ॐकार दोनोंकी चिन्मयता एक ही है। यह ॐकार और परमेश्वररूप एकमात्र ब्रह्म अमृतस्वरूप और सर्वथा भयरहित है। निश्चय ही ब्रह्म अभय—भयसे अत्यन्त दूर है। जो इस प्रकार जानता है, वह भी अवश्य ही भयरहित ब्रह्म हो जाता है। यह इस प्रसङ्गका गूढ़ रहस्य है।

(इस प्रकार तुरीयस्वरूप ॐकार और आत्माकी ओतरूपता (सर्वव्यापकता) तथा एकता बतलायी गयी। अब उन दोनोंकी अनुज्ञातृरूपता बतलायी जाती है—) निश्चय ही यह आत्मा अनुज्ञाता है; क्योंकि यही इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपना स्वरूप प्रदान करता है। यह सब कुछ जडरूप होनेके कारण स्वतः आत्मवान् नहीं हो सकता—आत्मा ही इसे अपनेमें लीन करके आत्मस्वरूप बना सकता है। वास्तवमें तो यह आत्मा न ओत है न अनुज्ञाता ही; क्योंकि यह असङ्ग और अविकारी है तथा इससे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता भी नहीं है। इसी तरह यह ॐकार भी अनुज्ञाता है; क्योंकि जब कोई किसीसे कुछ माँगते हुए कहता है कि 'क्या मैं आपकी अमुक वस्तुका उपयोग कर लूँ?' तो वह 'ओम्' (हाँ) यों कहकर ही अपनी अनुमति प्रदान करता है। निश्चय ही वाणीमात्र ओङ्कार है। वाणी ही इन सबके विषयमें अनुमति प्रदान करती है। निश्चय ही यह ओङ्कार चिन्मय है; क्योंकि यह चित्-शक्ति इस सम्पूर्ण अनात्म जगत्‌को आत्मसात् (अपनेमें लीन) कर लेती है। इसलिये ॐकार साक्षात् परमेश्वर ही है। वे दोनों एकमात्र ब्रह्म ही हैं। यह अमृतस्वरूप है, यह ब्रह्म सर्वथा भयरहित है। यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्म सर्वथा भयशून्य है। जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार इस प्रकरणका गूढ़ रहस्य है।

निश्चय ही यह आत्मा अनुज्ञैकरस (एकरस बोधस्वरूप) है; क्योंकि यह प्रज्ञानघन ही है। इस सम्पूर्ण कार्य-कारणमय जगत्‌के पूर्वसे ही यह भलीभाँति प्रकाशित

---

* वाणीके चार भेद हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमेंसे किसी-न-किसीके द्वारा ही वस्तुओंकी प्रतीति होती है।

है। अतएव घनीभूत चैतन्यस्वरूप ही है। वास्तवमें तो यह आत्मा न ओत है और न अनुज्ञाता ही; क्योंकि यह सब जगह आत्माकी ही अपेक्षा रखनेवाला है। स्वतः तो अनात्म होनेके कारण असत् ही है (इसलिये कौन किसमें व्यापक हो और कौन किसका अनुज्ञाता हो?)। निश्चय ही यह ॐकार भी अनुज्ञैकरस है; क्योंकि 'ओम्' इस प्रकार कहकर ही मनुष्य किसी वस्तुके लिये अपनी अनुमति प्रकट करता है। अवश्य ही वाणीमात्र ॐकार है; क्योंकि वाणी ही अनुमति देती है। निश्चय ही यह ॐकार चिन्मय है; क्योंकि चित् ही अनुज्ञा है। अतः चिन्मय होनेके कारण ॐकार साक्षात् परमेश्वर ही है। इस प्रकार वे दोनों एकमात्र ब्रह्म ही हैं। यह अमृतस्वरूप है, यह ब्रह्म सदा भयशून्य है। ऐसी प्रसिद्धि है कि ब्रह्म सर्वथा भयसे रहित ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह भयरहित ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसा इस प्रकरणका गूढ़ रहस्य है।

अवश्य ही यह आत्मा अविकल्प (निर्विशेष) है; क्योंकि इसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। निश्चय ही यह ॐकार भी अविकल्प है; क्योंकि वह भी अद्वितीय ही है। अवश्य ही यह ॐकार चिन्मय है। इसलिये परमेश्वरस्वरूप ही है। इस प्रकार वे दोनों एकमात्र ब्रह्म ही हैं; क्योंकि वह ब्रह्म विकल्पसे शून्य है। वास्तवमें परमात्मा अविकल्प भी नहीं है; क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं है (भेदकी सत्ता होनेपर ही सविकल्प और अविकल्प आदि भेद हो सकते हैं)। इस परमात्मामें कोई भी भेद उपलब्ध नहीं होता। इसमें जो भेद-सा मानता है, वह सैकड़ों और सहस्रों प्रकारसे भेदको प्राप्त होकर—सहस्रों भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेकर मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता रहता है। इसलिये यह अद्वितीय, स्वयंप्रकाश और महानन्दमय तत्त्व आत्मा ही है। यह ब्रह्म अमृतस्वरूप है, यह ब्रह्म सर्वथा भयसे रहित है। ऐसी प्रसिद्धि है कि ब्रह्म भयसे शून्य ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह भयशून्य ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसा इस प्रकरणका गूढ़ रहस्य है।

नवम खण्ड

प्रणवके द्वारा आत्माको जानकर साक्षिरूपसे स्थित होनेकी विधि

निश्चय ही उन प्रसिद्ध देवताओंने प्रजापतिसे कहा—भगवन्! हमें इस ॐकारके लक्ष्यार्थभूत आत्माका ही उपदेश करें। 'तथास्तु' कहकर प्रजापति बोले—'उपद्रष्टा (समीप रहकर देखनेवाला साक्षी) और अनुमन्ता (अपनेमें ही अध्यस्त प्राण और बुद्धि आदिको संनिधानमात्रसे केवल अनुमति देनेवाला) यह आत्मा 'सिंह' अर्थात् बन्धननाशक परमात्मा ही है, चित्स्वरूप ही है, निर्विकार है और सर्वत्र साक्षिमात्र है। अतएव द्वैतकी सिद्धि नहीं होती; केवल आत्मा ही सिद्ध होता है—एकमात्र आत्माकी ही सत्ता प्रमाणित होती एवं अनुभवमें आती है। आत्मा अद्वितीय है—उससे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता नहीं है। मायासे ही अन्य वस्तुकी प्रतीति-सी होती है। निश्चय ही वह उपद्रष्टा आदिके रूपमें बतलाया हुआ यह आत्मा साक्षात् परमात्मा ही है। यह माया ही सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्चके रूपमें भासित होती है। ठीक ऐसी ही बात है। वही यह माया प्राज्ञमें अविद्यारूपसे स्थित होकर उसके स्वरूपपर आवरण डालती है। वही सम्पूर्ण जगत्के रूपमें भासती है। आत्मा तो विशुद्ध परमात्मा ही है। यद्यपि यह स्वप्रकाश (अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला) एवं सर्वज्ञ है, तथापि यहाँ सुषुप्तावस्थामें जानते हुए भी अपने और दूसरेको पृथक्-पृथक् नहीं जानता; क्योंकि उस समय वह अविषयरूप है, सत्तामात्रसे भिन्न किसी भी विषयका उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार वह अज्ञानरूप भी है अर्थात् भेद-ज्ञानको ग्रहण करनेवाले अन्तःकरणके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। यह बात अनुभवसिद्ध है तथा यह तमोमयी (अज्ञानस्वरूपा) माया भी अनुभवसे ही जानी जाती है। इसलिये जड-मोहात्मक, प्रवाहरूपसे अनन्त और अत्यन्त तुच्छ यह दृश्यमान जगत् ही उसका स्वरूप है। यह माया ही इस पुरुषके समक्ष 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाले इस दृश्य-प्रपञ्चको अभिव्यक्त करनेवाली है। यद्यपि यह नित्य निवृत्त है, ढूँढ़नेपर कहीं भी इसकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती, तथापि अविवेकी पुरुषोंको यह आत्माकी भाँति अपना स्वरूप ही दिखायी देती है। यह इस चेतन आत्माकी सत्ता और असत्ताका भी दर्शन कराती है (मायाद्वारा प्रकट हुए जगत्का कोई चेतन आत्मा साक्षी अवश्य होना चाहिये—इस युक्तिसे आत्माकी सत्ताका अनुभव होता है तथा यह

माया स्वयं ही आवरण बनकर आत्माके स्वरूपको छिपा देती है, इसलिये उसकी असत्ता-सी प्रतीत होती है)। सिद्धता और असिद्धता तथा स्वतन्त्रता और अस्वतन्त्रताके कारण भी यह आत्माकी सत्ता और असत्ताका भान कराती है।* वही यह प्रसिद्ध माया साधारण वट-बीजकी भाँति एक होकर भी अनेक वटवृक्षोंके समान असंख्य जीवोंके उत्पादनकी शक्तिका केन्द्र है। यह कैसे? सो बतलाते हैं। जैसे एक साधारण वट-बीज अपनेसे अभिन्न अनेकों वटवृक्षोंको बीजसहित उत्पन्न करके उन सबमें अपनी पूरी शक्तिके साथ मौजूद रहता है, उसी प्रकार यह माया अपनेसे अभिन्न एवं परिपूर्ण क्षेत्रों (शरीरों)-को दिखाकर आभासद्वारा चेतन आत्माको जीव और ईश्वरके भेदमें प्रतिष्ठित कर देती है। यह स्वयं ही माया और अविद्या बन जाती है। यह प्रसिद्ध माया अति विचित्र, अत्यन्त दृढ़, अनेक अङ्कुरोंवाली, स्वयं तीन गुणोंमें विभक्त होकर अङ्कुरोंमें भी त्रिगुणमय स्वरूपसे स्थित रहनेवाली, सर्वत्र ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपमें उपस्थित और आत्म-चैतन्यसे उद्दीप्त रहनेवाली है। इसलिये सर्वत्र जो गुण-भेदसे त्रिविध स्वरूपकी उपलब्धि होती है, वह आत्माका ही स्वरूप है। कारणरूपमें भी वही स्थित है। मायाके कारण ही जीव और ईश्वरका भेद है। शरीरमें अभिमान रखनेवाला चेतन जीव कहलाता है और उसपर नियन्त्रण रखनेवाला ईश्वर कहा गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अर्थात् समष्टि-शरीरमें अभिमान रखनेवाले जीवका नाम ही 'हिरण्यगर्भ' है। गुण-भेदसे उसके भी तीन रूप हैं। ईश्वरकी भाँति उसमें भी आत्म-चैतन्यका बोध स्वतः प्रकट होता है। यह हिरण्यगर्भ सर्वव्यापी ईश्वर है, क्रिया एवं ज्ञानस्वरूप है। सम्पूर्ण क्षेत्र-समुदाय सर्वमय है (क्योंकि वह सर्वात्मक मायासे उत्पन्न है)। सब अवस्थाओंमें (छोटे-बड़े सभी रूपोंमें) प्रकट हुए सम्पूर्ण जीव भी सर्वमय हैं। तथापि अल्प शरीरमें अभिमान रखनेके कारण वे अल्प कहलाते हैं। वही यह परमात्मा सम्पूर्ण भूतों, इन्द्रियों, विराट् ब्रह्माण्ड, इन्द्रियाधिष्ठाता देवों तथा अन्नमय आदि पाँच कोशोंकी सृष्टि करके उनमें प्रवेश करता है और प्रवेश करके मूढ़ न होते हुए भी मूढ़की भाँति व्यवहार करता रहता है। यह सब कुछ मायासे ही होता है। (अतः मायाका कार्य होनेसे यह जगत् और तत्सम्बन्धी व्यवहार सब-के-सब मिथ्या ही हैं।) इसलिये यह आत्मा एकमात्र—अद्वितीय ही है। यह सन्मात्रस्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन (मायातीत), विभु (सर्वव्यापक), अद्वैत, आनन्दमय, पर (सर्वोत्कृष्ट) तथा प्रत्यगेकरस (आत्मामें ही एकमात्र रसकी उपलब्धि करनेवाला) है। इन प्रत्यक्ष आदि तथा सत्, चित्, आनन्दकी उपलब्धि आदि प्रमाणोंद्वारा इसका ज्ञान होता है। यह सब कुछ सत्तामात्र ही है। इस कार्य-कारणमय जगत्के पूर्वसे केवल सत्स्वरूप ब्रह्म ही स्वतःसिद्ध है (श्रुति भी कहती है—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**')। इस ब्रह्ममें उससे भिन्न दूसरी किसी वस्तुका अनुभव नहीं होता। ब्रह्ममें अविद्या भी नहीं है; क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप, स्वयम्प्रकाश, सबका साक्षी, निर्विकार और अद्वितीय है। यहाँ इस जगत्में भी देखो—जो कुछ भी है, वह सन्मात्र है। जो सत्से भिन्न है, वह असत् है। इस प्रकार सम्पूर्ण कल्पनाओंके साक्षीरूपसे सत्यस्वरूप ब्रह्मकी ही पहलेसे उपलब्धि होती है। वास्तवमें कार्यकी सत्ता न होनेसे यह परमात्मा कारणरूप भी नहीं है। यह सत्-स्वरूप ब्रह्म अपने आत्मामें ही स्थित, आनन्दमय, चिद्घनस्वरूप एवं स्वतःसिद्ध है। निश्चय ही किन्हीं अन्य प्रमाणोंसे इसकी सिद्धि नहीं होती। वही विष्णु, वही शिव और वही ब्रह्मा है। अन्य सब रूपोंमें भी वही उपलब्ध होता है। वह सर्वग (सर्वत्र व्यापक) एवं सर्वस्वरूप है। अतएव नित्य-शुद्ध है। उसके स्वरूपका कभी बाध नहीं होता। वह बुद्ध (ज्ञानस्वरूप), सुखरूप आत्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् निरात्मक (आत्मासे शून्य) नहीं है तथा निरपेक्ष आत्मा भी नहीं है; क्योंकि स्वतन्त्र आत्मा तो इस जगत्की उत्पत्तिके पहलेसे ही स्वतःसिद्ध है। यह सब जगत् कदापि सत्य नहीं है। आत्मा अपनी ही महिमामें स्थित, सर्वथा निरपेक्ष, एकमात्र साक्षी और स्वयम्प्रकाश है।'

देवताओंने पूछा—'वह नित्य, शुद्ध-बुद्ध एवं आत्मभूत तत्त्व क्या है?' प्रजापतिने कहा—'वही आत्मा

---

* अपनी महिमामें स्थित निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप आत्मा, अविद्यासे सम्बन्ध होनेपर, उसके साधकरूपसे प्रकट होता है। अतः उसके स्वरूपकी सिद्धि होनेसे उसकी सत्ता प्रमाणित होती है तथा प्रकृतिस्थ होनेपर आसक्तिवश जब वह जडप्रधान हो जाता है, तब उसके स्वरूपकी सिद्धि न होनेसे उसकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती। इसी प्रकार वह मायाका भी शासक और अधिष्ठाता होनेके कारण स्वतन्त्र है और अविद्यावश जब अपने स्वरूपको भूल जाता है, तब मायापरवश होनेके कारण अस्वतन्त्र हो जाता है; स्वतन्त्रता उसकी सत्ताका और अस्वतन्त्रता उसकी असत्ताका भान कराती है।

है। उस ब्रह्मके आत्मा होनेमें किसी प्रकारका संशय नहीं करना चाहिये। यह आत्मस्वरूप ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करता है। यह द्रष्टाका भी द्रष्टा, निर्विकार, साक्षी, नित्य-सिद्ध और अविद्यारहित है; क्योंकि यह बाहर और भीतर है तथा कार्य और कारणका भी निरीक्षण करनेवाला है। यह पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित है तथा अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा परे है।' इतना उपदेश देकर प्रजापतिने पूछा—देवताओ! बताओ तो सही, मेरे द्वारा उपदेश दिये हुए आत्माके स्वरूपका तुम्हें साक्षात्कार हुआ कि नहीं? देवता बोले—हमने आत्माके स्वरूपका साक्षात्कार तो किया; किंतु वह अव्यवहार्य (व्यवहारमें न आनेयोग्य) तथा अल्प है। यह सुनकर प्रजापतिने कहा—'नहीं, आत्मा अल्प नहीं है। वह सबका साक्षी है, निर्विशेष है। उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। वह सुख और दुःख दोनोंसे रहित है। अद्वितीय परमात्मा है। सर्वज्ञ है, अनन्त है, अभिन्न है तथा द्वैतरहित है। मायाके कारण ही उसकी सदा सम्यक् प्रकारसे उपलब्धि नहीं होती, परंतु वास्तवमें वह प्रकाशित न होनेवाला नहीं है। कारण कि वह स्वयम्प्रकाश है। माया और अज्ञान भी आत्मामें ही कल्पित होनेके कारण आत्मासे भिन्न नहीं हैं। तुम्हीं सब लोग आत्मा हो।' इतना कहकर पुनः प्रश्न किया—'क्या अब भी तुम्हें आत्मतत्त्वका दर्शन हुआ? यदि हुआ तो अद्वैतरूपसे या द्वैतरूपसे?' देवताओंने कहा—हमें तो द्वैतका ही दर्शन होता है। प्रजापतिने कहा—'नहीं, तुम्हें द्वैतरूपमें आत्माका दर्शन नहीं होता; क्योंकि आत्मा तो तुम्हीं हो। वह तुमसे भिन्न नहीं है।' तब देवताओंने कहा—भगवन्! अभी पुनः उपदेश कीजिये। प्रजापतिने कहा—'तुम स्वयं ही आत्मा हो। तुमसे पृथक् द्वैतका कहीं दर्शन नहीं होता। यदि तुम्हें द्वैत दिखायी देता है तो तुम आत्मज्ञ नहीं हो; क्योंकि यह आत्मा असङ्ग है। (जो असङ्ग है, उसका द्वैतके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण उसे द्वैतका दर्शन भी नहीं हो सकता।) तुम अपनेको—आत्माको द्वैतदर्शी मानते हो, इसलिये तुम्हें आत्माका ज्ञान नहीं है।'

अतः तुम्हीं लोग स्वप्रकाश आत्मा हो—तुम स्वयं ही द्वैतरूपमें भासित होते हो, वास्तवमें अद्वैत आत्मा ही हो। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब सत्स्वरूप आत्मा ही है; क्योंकि सब कुछ संवित् (ज्ञान)-स्वरूप है। इसलिये तुम्हीं सत् एवं संविद्रूप आत्मा हो (किंतु इस समय ससङ्ग हो रहे हो—मिथ्या द्वैतके प्रति तुम्हारे मनमें आसक्ति हो रही है)। यह सुनकर वे प्रसिद्ध देवता बोले—'नहीं, ऐसी बात नहीं है। अहो! हम तो असङ्ग ही हैं—हमारी कहीं भी आसक्ति नहीं है।' तब उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—'यदि तुम असङ्ग हो तो तुम्हें द्वैत कैसे दिखायी देता है?' देवता बोले—'हम नहीं जानते कैसे हमें द्वैत दिखायी देता है।' 'तब तो तुम स्वयं ही द्वैतरूपमें प्रकाशित हो रहे हो। (क्योंकि असङ्ग होनेके कारण आत्माको अपनेसे भिन्न किसी द्वैतका दर्शन नहीं हो सकता। जो कुछ दिखायी देता है, वह आत्मामें ही अध्यस्त है, अतः उससे भिन्न नहीं है)'—यों निश्चयपूर्वक प्रजापतिने कहा। (यदि आपने हमें ससङ्ग, सत्-संविद्रूप बताया है तो ससङ्ग, सत् और संवित् असङ्ग आत्माके लक्षण कैसे हो सकते हैं? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—) 'तुम ससङ्ग, सत्संविद्रूप नहीं हो; (तब आपने हमें सत् और संवित्-स्वरूप बताया क्यों?' देवताओंके इस प्रश्नपर प्रजापति बोले—'हमने सत् और संवित्‌के लक्ष्यभूत आत्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिये ही तुम्हें सत् और संवित् बताया है।) सत् और संवित्—ये दोनों शब्द उसी आत्मतत्त्वको लक्ष्य कराते हैं, जो सृष्टिके पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित है। वह अव्यवहार्य (व्यवहारमें न ला सकनेयोग्य) होता हुआ ही अद्वितीय है। देवताओ! क्या अब भी तुमने आत्माको समझा?' देवता बोले—''हाँ, भलीभाँति समझ लिया; आत्मा विदित और अविदित—दोनोंसे परे है। (मन-बुद्धिका विषय न होनेके कारण तो वह विदितसे परे है और स्वप्रकाश, चिन्मय होनेके कारण अविदितसे परे है।)' तब उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—वही यह अद्वय ब्रह्म है। वह बृहत् (महान्‌से भी महान्) होनेके कारण नित्य है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप है, सत्य, सूक्ष्म, सब ओरसे पूर्ण, द्वैतरहित, सत्स्वरूप, आनन्दरूप तथा चिन्मात्र आत्मा ही है। किसी भी दूसरेके द्वारा वह व्यवहार्य (वाच्य) नहीं है।

''यद्यपि आत्माको दृष्टि आदिका विषय न होनेके कारण तुम देख नहीं पाते, तथापि इस ब्रह्मको, जो प्रणवका वाच्यार्थ होनेके कारण प्रणवरूप ही है, अपने आत्मरूपमें देखो। वही यह सत्य है। आत्मा ब्रह्म ही है और ब्रह्म आत्मा ही है। निश्चय ही इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिये। हाँ, अवश्य ही यह सत्य है। इस सत्यको विवेकशील

विद्वान् ही देख पाते हैं। यह ब्रह्म या आत्मतत्त्व न शब्द है न स्पर्श है, न रूप है न रस है और न गन्ध ही है। न वाणीद्वारा बोलनेयोग्य है और न हाथसे ग्रहण करनेयोग्य। वह पैरोंसे पहुँचनेयोग्य स्थान भी नहीं है। गुदाद्वारा त्यागने अथवा उपस्थ-इन्द्रियद्वारा विषयानन्दके रूपमें अनुभव करनेयोग्य भी नहीं है। मनसे मनन करनेयोग्य और बुद्धिसे जाननेयोग्य भी नहीं है। अहङ्कारका और चित्तका भी विषय नहीं है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—इन पाँचों प्राणोंका भी विषय नहीं है। वह न इन्द्रियरूप है न विषयरूप। उसके न करण है न लक्षण है। वह असङ्ग, निर्गुण, निर्विकार, अनिर्देश्य, सत्त्व, रज एवं तमोगुणसे रहित तथा मायासे शून्य है। वह उपनिषदोंके द्वारा ही लक्षणासे जाननेयोग्य है। भलीभाँति प्रकाशित है। सदा एकरस प्रकाशमय है। इस सम्पूर्ण कार्य-कारणमय जगत्के पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित है। उस अद्वय तत्त्वको 'मैं वह हूँ और वह मेरा स्वरूप है' इस प्रकार देखो।'' यों कहकर वे प्रसिद्ध प्रजापति बोले—देवताओ! क्या इस आत्माको तुमने देखा अथवा नहीं देखा? देवताओंने कहा—'देखा, वह विदित और अविदितसे परे है। अहो! यह माया कहाँ चली गयी? और कैसे इस स्वप्रकाश आत्मामें पहले रह सकी?' प्रजापतिने कहा—उससे क्या? (क्या इस बातको न जाननेसे तुममें कोई न्यूनता आ जाती है?) नहीं, कुछ भी नहीं—देवताओंने कहा। प्रजापति बोले—'इस मायाके लिये आश्चर्य करनेकी आवश्यकता नहीं, तुम स्वयं ही आश्चर्यरूप हो। (क्योंकि तुम्हारे ही आश्रित रहकर माया विचित्र कार्य करनेकी शक्ति पाती है।) परंतु वास्तवमें तुम भी आश्चर्यरूप नहीं हो (क्योंकि स्वरूपभूत सत्तामात्रसे ही तुम मायाकी आश्चर्यरूपतामें हेतु बनते हो, विकारको प्राप्त होकर नहीं; अतः सर्वदा एकरूप होनेके कारण तुम्हें आश्चर्यरूप भी नहीं कहा जा सकता)'—प्रजापतिने कहा। ''जो कुछ बताया गया, इसे 'हाँ' कहकर 'अनुज्ञा' रूपसे स्वीकार करो और इस आत्माके विषयमें बताओ।'' आत्मा ज्ञात भी है और अज्ञात भी, देवताओंने उत्तर दिया और कहा—वह ऐसा भी (ज्ञात-अज्ञात भी) नहीं है।

'फिर भी उसके आत्मसिद्ध स्वरूपको तो बताओ ही।' प्रजापतिने जब यों कहा, तब देवता बोले—'भगवन्! हम केवल देखते ही हैं, फिर भी नहीं देखते; हम उसे कहकर बता नहीं सकते। भगवन्! आपको नमस्कार है, हमपर प्रसन्न होइये।' देवताओंका यह कथन सुनकर प्रजापति बोले—डरो मत; पूछो, क्या जानना चाहते हो? देवता बोले—भगवन्! यह अनुज्ञा क्या है? 'यह आत्मा ही अनुज्ञा है,' प्रजापतिने कहा। तब देवता बोले—भगवन्! आपको नमस्कार है; हम आपके ही हैं।

इस प्रकार उन प्रसिद्ध प्रजापतिने देवताओंको उपदेश दिया, उपदेश दिया। इस विषयमें यह श्लोक है—

ओतमोतेन जानीयादनुज्ञातारमान्तरम्।
अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेत्।
उपद्रष्टारमाव्रजेत्॥

'ओत (व्यापक) आत्माको ओत (प्रणव)-के द्वारा जाने। फिर अनुज्ञातारूप प्रणवके द्वारा अनुज्ञाता आत्माको जाने। तत्पश्चात् अनुज्ञा-प्रणवके द्वारा अनुज्ञारूप आत्माको जाने तथा अविकल्परूप प्रणवद्वारा अविकल्परूप आत्माको जानकर उपद्रष्टा-भावको प्राप्त हो—साक्षीरूपसे स्थित हो जाय।'

(इस श्लोकमें आठवें और नवें खण्डोंका संक्षेपसे सार आ गया है। अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति ग्रन्थ-समाप्ति सूचित करनेके लिये है।)

॥ नवम खण्ड समाप्त॥ ९ ॥

॥ अथर्ववेदीय श्रीनृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् समाप्त॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!